यौन-व्यवहार-अनुशीलन

—दयानन्द वर्मा

एक मत :-

वीर्य अमूल्य निधि है। शक्ति का सार रूप है। वीर्य का निष्कासन करना मानो अकाल-मृत्यु का आह्वाहन करना है।

दुसरा मत :-

यौन-प्रवृत्ति एक सहज प्रवृत्ति है। वीर्य-निष्कासन एक सहज-सामान्य प्रक्रिया है। इस निष्कासन क्रिया में बाधा डालना यौन-विकृतियों को जन्म देना है।

और तीसरा मत ?

यह प्रस्तुत पुस्तक का विवेच्य विषय है

कामशास्त्र-विषयक मौलिक रचना

यौन-व्यवहार-अनुशीलन

लेखक

दयानंद वर्मा

मुद्रक एवं प्रकाशक —
नवचिन्तन-प्रसार-गृह,
१६४१, दरीबा कलां,
दिल्ली-६

प्रथम संस्करण — फरवरी, १६६८

मूल्य — पंद्रह रुपये

प्रमुख विक्रेता —
हिन्दी बुक सैण्टर, दरियागंज, दिल्ली-६

क्रम

प्राक्कथन

एक ऐसा व्यक्ति है, जो कहीं से पिस्तौल प्राप्त करता है। एक ऊँची-सी अट्टालिका पर चढ़ कर सड़क पर चलते अपरिचित व्यक्तियों पर फायर करता है। एक दूसरा व्यक्ति है, जो किसी मकान में घुसकर उसमें बसने वाली आठ नर्सों का खून करता है — उनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। तीसरे को केवल वेश्याओं को कत्ल करने का ख़ब्त है। चौथा सिर्फ विवाहित जोड़ों को अपनी गोली का निशाना बनाता है और पाँचवे को केवल छोटे बच्चों का शिकार करने में आनन्द आता है।

पकड़े जाने पर ऐसे व्यक्ति न्यायालय में स्वीकार करते हैं कि कत्ल किए जाने वालों से हमारी कोई व्यक्तिगत शत्रुता न थी। धन के लोभ में भी हम ने खून नहीं किया है।

तो फिर वे कौन-सी बातें हैं जिनसे अभिभूत होकर वे शान्तिप्रिय व्यक्ति कातिल बने ?

अदालत के कटहरे में खड़े कत्ल के ये अभियुक्त उपर्युक्त प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे पाते। इस प्रश्न का उत्तर पाने का प्रयत्न मनोविज्ञान के वेत्ता करते हैं। यथार्थ तक पहुँचने की खोज में वे अपने आप से प्रश्न करते हैं :—

— क्या अखबारों में अपने नाम छपवाने के लिए ऐसे अपराध होते हैं या सादवादी-प्रवृत्ति (सैडिज़्म) से वशीभूत होकर ?

बेशक प्रचार का मोह व्यक्ति को कातिल बनने की प्रेरणा दे सकता है लेकिन नया सवाल यह उभरता है कि इस किस्म की घटनाएं अधिकतर उन देशों में ही क्यों घटित होती हैं जहां यौन-स्वच्छन्दता अपेक्षाकृत अधिक है ? क्या प्रचार का

मोह अन्य उन देशों के नागरिकों में नहीं है जहां यौन-स्वच्छन्दता अपेक्षाकृत कम है ?

यदि सादवादी-प्रवृत्ति की प्रेरणा-वश ऐसा होता है तो ऐसी कौन-सी प्रेरणा उस यौन-स्वच्छन्दता जनित वातावरण में है जो दूसरों को तड़पा-तड़पा कर मारने की चेष्टा में कर्ता को सुख की अनुभूति देती है ।

सौ प्रश्नों का उत्तर है एक शब्द `काम` । वह उत्तर यहाँ भी दिया जाता है । सिर्फ यहाँ ही नहीं, मनोवेत्ताओं को जहां कहीं भी किसी जीव की चेष्टाओं में तीव्रता दिखाई देती है, उस चेष्टा का प्रेरक कारण उनकी समझ में नहीं आता तो वहां एक शब्द `काम` कह कर छुट्टी पा ली जाती है ।

बच्चे को अँगूठा चूसने में, चोर को चोरी करने में, तपस्वी को तपस्या में, कवि को कविता करने में और चितेरे को चित्र बनाने में जो सुख मिलता है, उस सुख को यौन-सुख या उसका स्थानापन्न सुख समझ लिया जाता है ।

आज `काम` का कार्यक्षेत्र जो इतना व्यापक समझा जा रहा है, उसका कारण एक शताब्दी से पूर्व की वह स्थिति थी, जिस में काम को `घोर पाप` कह कर लोगों को इस से बचने की सलाह दी जाती थी । उस असन्तुलित स्थिति के प्रतिकार के लिए उस युग के चिन्तकों ने काम की सर्वव्यापकता का शंखनाद करके एक नयी असन्तुलित-अवस्था की भूमिका तैयार की थी । फल-स्वरूप समाज असन्तुलन के एक छोर से दूसरे छोर की ओर चल पड़ा था । शायद अब समाज उस दूसरे छोर तक पहुँच गया है और अब यह आवश्यकता अनुभव होने लगी है कि पिछली पीढ़ी द्वारा प्रतिष्ठित की गयी काम-संबंधी मान्यताओं को एक बार फिर परखा जाए ।

उन मान्यताओं की परख के लिए सबसे पहला प्रश्न अपने आप से यह करना पड़ता है कि जिन तीव्र चेष्टाओं की प्रेरक मूल-शक्ति आज `काम` समझी जाती है, यदि वह शक्ति `काम` नहीं है तो उस शक्ति का नाम क्या है ?

यह प्रश्न उठाने से मेरा यह आशय हर्गिज नहीं है कि काम की अदम्य शक्ति के प्रति मैं आस्थावान् नहीं हूँ। मेरा आशय मात्र इतना है कि उस शक्ति को `मूल-शक्ति` मानने को मेरा मन नहीं मानता।

ज्यों ज्यों मैं काम-विषय की नयी पुरानी पुस्तकें और लेख पढ़ता रहा हूँ, मेरा यह विचार दृढ़ होता रहा है कि जीव की तीव्र चेष्टाओं को प्रेरणा देने वाली मूल-शक्ति कोई और है जो यौन-व्यवहारों की भी नियन्ता है और जीव की अन्य तीव्र चेष्टाओं को भी प्रेरणा देती है। इस शक्ति के अस्तित्व को सभी पुराने चिन्तक महसूस करते रहे हैं, लेकिन उस शक्ति के नामकरण के समय उन्हें `काम` के सिवाय और कोई नाम नहीं सूझा।

मेरा जिज्ञासु मन पिछले दस वर्षों से उस मूल-शक्ति के बारे में चिन्तन करता रहा है। निरन्तर चिन्तन के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि काम की अदम्य-शक्ति के पीछे एक और प्रवृत्ति है जिस का नाम फिलहाल मैंने `अनुकूलन-प्रवृत्ति` रखा है।

इस प्रवृत्ति का बोध होने के बाद मैंने तथाकथित यौन-विच्युतियों और विकृतियों से सम्बद्ध घटनाओं को इस अनुकूलन-प्रवृत्ति के प्रकाश में परखा है। मेरा विश्वास इस प्रवृत्ति के अस्तित्व के बारे में पुष्ट होता रहा है।

सन् १९६४ में मैंने इस पुस्तक का मूलअंश — `अनुकूलन-सिद्धान्त` शीर्षक का निबंध और एक प्रकरण — `तथाकथित

यौन-विच्युतियाँ ' को रफ़ से सुवाच्य लिख लिया था। इस सिद्धान्त की प्रेरणा चूँकि मुझे आयुर्वेद-दर्शन से प्राप्त हुई थी, इसलिए इसकी परख के लिए मैंने अपने ये दोनों प्रकरण आयुर्वेद-शास्त्र के प्रकाण्ड-विद्वान वैद्यरत्न श्री शिवशर्मा को भेजे। शर्मा जी ने निबंध पढ़कर लौटाते हुए मुझे लिखा :—

> ' क्रियात्मक-चिकित्सा-अभ्यास में यह सिद्धान्त कहां तक सफल हो सकता है, इस प्रश्न का उत्तर इस समय देना मुझे अपनी योग्यता से बाहर की बात लगती है। इस प्रश्न का वास्तविक उत्तर तो समय ही दे सकता है और देगा। आप इस पुस्तक को पूरा कीजिए और इसके बाद के प्रकरण मुझे भेजिए।'

उन के इन शब्दों से मेरा उत्साह बढ़ा और मैंने उसके बाद के प्रकरणों को, जो रफ़ रूप में मेरे पास पड़े थे, सुवाच्य रूप देने लगा। वे सारे प्रकरण आपके हाथ में हैं।

' अनुकूलन सिद्धान्त ' के बारे में मुझे यह कहना है कि मैं इस सिद्धान्त के प्रति आस्थावान हूँ। हो सकता है परीक्षणों की कसौटी पर परखने से इस सिद्धान्त की त्रुटियां मालूम पड़ें लेकिन त्रुटियों के भय से उसका प्रसार रोकना मैं उचित नहीं समझता। इसकी जो त्रुटियाँ मैं नहीं जान पाया, यदि अन्य विद्वान जान कर मुझे अवगत करा सकें तो उनका आभार मानूँगा।

इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए मुझे कहीं कहीं इस पुस्तक के मूल विषय से दूर भी जाना पड़ा है और कुछ प्रकरण ऐसे भी लाने पड़े हैं, जिनका इस सिद्धान्त से सीधा संबंध नहीं, लेकिन यौन-व्यवहारों से है। फिर भी यह पुस्तक लिखते समय मैंने यह ध्यान बराबर रखा है कि इसका

पाठक अब तक छपीं इस विषय की पर्याप्त सामग्री पढ़ चुका है और यह कि इसके पाठक को पहले की पढ़ी हुई सामग्री बारम्बार पढ़ना अखरेगा ।

इस पुस्तक की भाषा सँवारने में साहित्य-मर्मज्ञ डा० रामविलास शर्मा तथा भाषा-विद् डा० बद्रीनाथ कपूर ने अपना जो बहुमूल्य समय दिया है, धन्यवाद की औपचारिकता निबाह कर उस कृतज्ञता से मुक्त नहीं हुआ जा सकता ।

२६६, दरीबाकलां,
दिल्ली-६

— दयानन्द वर्मा

विषय-प्रवेश

यौन-चेष्टाओं की पृष्ठभूमि

यौन-चेष्टाओं की पृष्ठभूमि

कोई किसी को बताये या न बताए, पर यौवन की देहरी पर पाँव रखते ही हर किसी को यह पता चल जाता है कि मैं कहाँ आ पहुँचा हूँ। उस देहरी तक पहुँचने से पहले यदि किसी को बता दिया जाए तो उसे विश्वास नहीं होता, लेकिन आयु की वह विशिष्ट सीमा-रेखा लाँघते ही उन अविश्वसनीय बातों पर यकीन करने के लिए सहसा ही उसका जी चाहने लगता है। लगता है कि उन सब बातों के समझ लेने की अन्तर्दृष्टि उसमें आ गयी है। कोई रहस्य है जो उसके अंग-अंग में समा गया है। वह रहस्य उसके तन को भेद कर बाहर निकलना चाहता है, किन्तु उसे मार्ग नहीं मिलता। वह कुछ कहना चाहता है, लेकिन कहने के लिए जिस भाषा की आवश्यकता है, उससे वह अनभिज्ञ है। मानों उसकी काया एक अनुबूझी-सी पहेली बनी हुई है और उस पहेली का जैसे कोई हल नहीं है।

समझ में नहीं आता कि दोनों प्रकार के प्रत्येक लिंगीय व्यक्ति में यह ज्ञान कहां से फूट पड़ता है? क्या ये भाव पहले से ही उसमें विद्यमान थे या उसने पहली बार ये बातें देखी हैं?

→ उसकी नज़र बदल गयी है या संसार ही में कुछ परिवर्तन आ गया है। यह सब क्या है? क्यों है? किससे वह पूछे? कौन उसे बताए?

शरीर-विज्ञान उस `क्यों` और `क्या` का

जवाब देने का प्रयत्न करता है। उस विज्ञान का कहना है कि इन परिवर्तनों का मूल कारण उसकी युव-सुलभ ग्रन्थियों का क्रियाशील हो उठना है।

ग्रंथियां सक्रिय हुईं और आदमी की निगाह बदल गयी। क्या ये ग्रंथियां ही हमारे यौन-व्यवहारों की नियन्ता हैं ? मानव जीवन के अधिकतम भाग में होने वाली अधिकतर क्रियाओं का संचालन क्या इन ग्रंथियों द्वारा ही होता है ? सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी की यह असहायावस्था !

निस्संदेह। तो फिर इन ग्रंथियों का नियामक कौन है ? वह कौन-सी प्रवृत्ति है जो निश्चित वय की प्राप्ति पर युवती या युवक की ग्रंथियों को क्रियाशील होने की प्रेरणा देती है ?

इसका उत्तर मनोविज्ञान देता है। मनोविज्ञान का कहना है कि मानव की कुछ मूल-प्रवृत्तियां हैं, जो वंश-सूत्रों द्वारा संस्कारों के रूप में उसे मिली हैं। उन मूल-प्रवृत्तियों में मुख्य दो हैं। पहली आत्म-रक्षण-प्रवृत्ति और दूसरी जाति-सम्वर्द्धन-प्रवृत्ति। पहली प्रवृत्ति मानव को अस्तित्व बनाए रखने के लिए प्रेरणा देती है। दूसरी प्रवृत्ति उसे अपने जैसा जीव उत्पन्न करने के लिए प्रेरित करती है। यह इसी दूसरी प्रवृत्ति का प्रताप है कि सृष्टि का क्रम बना हुआ है। सृष्टि का क्रम बनाए रखने के लिए मानव, मात्र मानव ही क्यों, सृष्टि का हर चेतन, अर्द्ध-चेतन जीव इस क़दर दीवाना क्यों, कि अपनी प्रतिलिपियां तैयार करने में अपनी शक्ति का अधिकांश भाग व्यय करके अपने आप को धन्य मानने लगे। कितनी शक्तिमान है यह प्रवृत्ति ! लेकिन उस मूल प्रवृत्ति के पीछे कौन-सी शक्ति है जो उसे इतनी तीव्र गति देती है ?

मूल-प्रवृत्ति का मूल ! हास्यास्पद-सा लगता है, लेकिन मुझे तो सतही नज़र से देखने पर एक चिड़िया का अपने बच्चे को पालना भी हास्यास्पद-सा लगता है । कहीं पढ़ा था कि अपनी नवजात संतान को चिड़िया एक दिन में सौ से अधिक बार चुग्गा लाकर खिलाती है । उस बच्चे को खिलाती है, जो बड़ा होने के बाद न अपनी जननी का नाम रौशन करेगा और न अपनी वल्दियत बता सकेगा, अपितु पंख लगते ही उड़ जाएगा और फिर उसे शायद पहचान भी न सकेगा । उस कृतघ्न संतान के लिए चिड़िया इतना श्रम क्यों करती है ? यदि उसकी इस क्रियाशीलता का कारण ममता समझ लिया जाए तो मकड़ी का जाला बुनना, भौंरे का पराग एकत्र करना, मधु-मक्खियों का मधु-संचय करना, दीमक का बाँबी बनाना, चूहे का चीजें कुतरना, बच्चे का निरुद्देश्य तोड़-फोड़ करना — इन सब क्रियाओं के पीछे कौन-सी प्रवृत्ति काम करती है ? इन सब ने गीता के `निष्काम कर्मयोग`[१] का ज्ञान प्राप्त नहीं किया । फिर कौन-सी शक्ति है जो इन्हें कुछ-न-कुछ करते रहने के लिए प्रवृत्त करती है ?

विषय यदि धर्म का होता तो इस प्रश्न का उत्तर देना अत्यन्त सरल था । एक शब्द `परमात्मा` कह कर छुट्टी पा ली जाती ।

यदि चर्चित विषय `धर्म` न होकर `विज्ञान` होता तो भी सुविधा रहती । `परमात्मा` का पर्याय `प्रकृति` कह कर बात खत्म की जा सकती थी, किन्तु यहाँ विषय जिज्ञासा का है ।

१, भगवद्गीता: दूसरा अध्याय

वह जिज्ञासा ही थी जिसने 'जाति-सम्वर्द्धन' नामक प्रवृत्ति की खोज की। वह जिज्ञासा ही है जो उस मूल के मूल तक पहुँचना चाहती है।

मुझे कहने दीजिए कि जाति-संवर्द्धन-प्रवृत्ति हमारी मूल-प्रवृत्ति नहीं है, बल्कि मूल-प्रवृत्ति वह है जो सृष्टि के सर्वप्रथम चेतन-भौतिक-पुंज के प्रथम स्पन्दन का कारण बनी।

बात लम्बी होती जा रही है। किन्तु स्पन्दन के प्रथम कारण तक पहुँचे बिना बात बनेगी नहीं। इस चर्चा को और आगे बढ़ाने के लिए ज़रूरी है कि प्राणी या चैतन्य-जीव की कोई परिभाषा निश्चित् कर ली जाए।

प्राणी वह, जिसमें प्राण हों। चेतन वह, जिसमें चेतना हो, अनुभूति हो ; सुखद की ओर बढ़ने और दु:खद से पीछा छुड़ाने की क्रियाशीलता हो।

चेतना और प्राण क्या हैं ?

चेतना वह शक्ति है जो प्रकृति के केवल उन्हीं तत्त्वों को ग्रहण तथा आत्मसात् करती है जो उसके अपने संवर्धन में सहायक होते हैं।

सृष्टि में सर्वप्रथम चेतना किस रूप में प्रस्फुटित हुई और वह चेतना भेद-प्रभेदों में कैसे बटी ? इन प्रश्नों के उत्तर खोजने की चेष्टा में ही धर्मों और दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ है। इन प्रश्नों का विस्तृत उत्तर देना मूल विषय से दूर चला जाना होगा, अत: सामयिक रूप से इतना मान लेना काफी होगा कि जीव की प्रथम सहज-प्रवृत्ति जीना है। जिस प्रथम कम्पायमान अवस्था में जीव नामधारी भौतिक-पुंज सृष्टि में आया, उसी कम्पन को जारी रखने की प्रवृत्ति ही जीने की कामना है।

' जीव में जीवित रहने की कामना ।'

इन शब्दों की गहराई में जाएं तो यह वाक्य भी कम हास्यास्पद नहीं है । इससे यह प्रकट होता है कि जीव अपने आपको अपनी इच्छा से चलने वाले यंत्र से ऊँचे क़िस्म की कोई वस्तु मानता है, जब कि वास्तविकता यह है कि वह एक विशेष स्पन्दित अवस्था में, प्रकृति के प्रांगण में ठेल दिया गया एक भौतिक पुंज है जो आनुवंशिक-संस्कारों द्वारा निर्धारित एक अक्ष पर निरन्तर गतिमान है । वह पुंज अपने आस-पास के भौतिक-तत्त्वों को आहार के रूप में आत्मसात् करता हुआ अपना आकार बढ़ा रहा है । अपने कम्पन को नाना रूप दे रहा है । उसकी गतिशीलता में उसकी अपनी इच्छा का कोई महत्त्व नहीं है । बिलकुल वैसे ही, जैसे सूर्य की परिक्रमा करने में पृथ्वी नामक हमारे ग्रह की अपनी इच्छा का कोई दख़ल नहीं है ।

'हम जीने की कामना करते हैं' इस वाक्य का दार्शनिक अर्थ यह है कि जिस प्रथम स्फुरणावस्था में हम अवतरित हुए, स्फुरण की वही लय बने रहना हमें अनुकूल लगता है । जो अनुकूल है, वह सुखकर है । चालित यंत्र का चलते रहना उसके लिए अनुकूल स्थिति है । उसका रुकना प्रतिकूल स्थिति है । चालित को और तीव्र चलाने के लिए उतनी शक्ति नहीं चाहिए जितनी चालित को रोकने के लिए चाहिए । जीव के प्रथम कम्पन के जारी हो जाने और आहार के अर्जन-विसर्जन द्वारा उस प्रकम्पन के गति पकड़ लेने के बाद उसे अचानक ही रोकने की कल्पना करना जीव की प्रवृत्ति के प्रतिकूल है । मृत्यु इसी प्रतिकूल स्थिति का नाम है, इसलिए वह असुखकर समझी जाती है, अत: उस असुखकर से पलायन करना भी प्राणी की सहज प्रवृत्ति है ।

मृत्यु से पलायन हमारी सहज-प्रवृत्ति तब तक है जब तक कम्पन की लय में कोई अवरोध नहीं आता । यदि उस लय में अवरोध आने लगे तो मृत्यु की कामना करना सहज लगता है । अत्यन्त रुग्णावस्था में या वृद्धावस्था में मृत्यु की कामना करने का कारण यही लयहीन-अवस्था है ।

कम्पन प्राणी के जीवन का आधार है । मुर्गी अण्डा दे रही है, चिड़िया गा रही है, पतंगा नृत्य कर रहा है और अमीबा (आरंभिक-सूक्ष्म-जीवाणु) अपने शरीर का विभाजन कर रहा है ; जीवों की ये सब क्रियाएं कम्पन की भिन्न अवस्थाएं हैं । उस कम्पन का आधार आहार तथा आहार-जन्य-ताप का अर्जन-विसर्जन-चक्र है । हर जीव की आहार-अर्जित करने, उसके चोषण करने तथा विसर्जन करने की क्षमता भिन्न है । अर्जन, चोषण तथा विसर्जन के ढंग भिन्न हैं । यही विभिन्नता प्राणियों के आकार, परिमाण, रूप, रंग तथा आकार के भेद का कारण बन जाती है । उदाहरणत: अमीबा एक-कोशीय जीव है । इस कारणवश अर्जित-आहार के शेषांश को मल रूप में विसर्जित करने की क्षमता से हीन है । इसलिए उसका विसर्जन का माध्यम बहुकोषीय जीवों के माध्यम से अलग हो गया है । वर्द्धन की एक सीमा तक पहुँचने के बाद वह अपने अतिरिक्त शरीर को खंडित करके अपनी अनुकूल स्थिति बहाल कर लेता है । यदि उसमें अपने आपको विभाजित कर देने की क्षमता न होती, तो कल्पना ही की जा सकती है कि वह सरीसृप से बड़ा आकार धारण कर लेता ।

' आकार धारण कर लेता ' जैसी कल्पना भी क्यों की जाए, प्रागैतिहासिक-काल के विशाल आकार के वे जीव, जो अब लुप्त हो चुके हैं, इसी अमीबा के उस एक वर्ग का रूपान्तर थे,जो

अतिरिक्त अंश खण्डित करने की क्षमता से हीन हो गया था ।

अपने विषय पर फिर आते हैं । कम्पन का आधार अर्जन, चोषण और विसर्जन का चक्र है । कम्पन की लय एक बार बँध जाने के बाद यह चक्र स्वत: चलने लगता है । यही स्वत: चलना ही मनोविज्ञान के मत से मूल-प्रवृत्ति है । इस दृष्टि-कोण से जीना — यानी अस्तित्व बनाए रखना तो प्राणी की मूल-प्रवृत्ति हो सकती है, किन्तु जाति-संवर्द्धन-प्रवृत्ति को मूल-प्रवृत्ति नहीं माना जा सकता । जाति-संवर्द्धन-प्रवृत्ति के पीछे एक और प्रवृत्ति काम करती है उसकी चर्चा आगे 'शक्ति-अनुकूलन-प्रवृत्ति' के नाम से होनी है । यह 'अनुकूलन-प्रवृत्ति' ही मानव के यौन-व्यवहारों की नियन्ता है । इस प्रवृत्ति द्वारा यौन-व्यवहारों का संचालन कैसे होता है, यह आगे की पंक्तियों का विषय है ।

....

प्रकरण — १

अनुकूलन-सिद्धान्त

- शक्ति-अनुकूलन-प्रवृत्ति
- मल-अनुकूलन-प्रवृत्ति

शक्ति-अनुकूलन-प्रवृत्ति[1]

`विषय-प्रवेश` में कहा जा चुका है कि जीवन का आधार कम्पन है। कम्पन जारी रखने के लिए जीव को ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है और कम्पन के जारी रहने से नयी ऊर्जा उत्पन्न होती है।

कम्पन की प्राथमिक-शक्ति जीव वंश-सूत्र से लेकर आता है। वह शक्ति इतनी कम होती है कि अधिक देर तक कम्पन जारी नहीं रख सकती। वह कम्पन दीर्घकालिक तभी बन सकता है जब उस प्राथमिक ऊर्जा के समाप्त होने से पूर्व नयी शक्ति उत्पन्न हो जाए। इसके लिए ज़रूरी है कि वंश-सूत्र द्वारा प्रदत्त शक्ति में से पहले कुछ विसर्जित हो फिर आहार द्वारा अर्जित हो। अर्जन-विसर्जन का क्रम एक बार बँध जाने के उपरान्त प्राण-यंत्र का चक्र निर्बाध रूप से चलने लगता है।

वंश-सूत्र से प्राप्त शक्ति का पहला विसर्जन नवजात शिशु रोदन के रूप में करता है। उसका प्रथम रोदन मानो उसके भीतर के अप्रयुक्त-संस्थान को चलाने के लिए पहला धक्का है। उस प्रथम धक्के में जो शक्ति विसर्जित होती है, उसकी पूर्ति के लिए वह प्रकृति से जो अंश लेता है, वह उसका आहार है। आहार सृष्टि के उस तत्त्व का नाम है जो जीव द्वारा ग्रहण किये जाने के बाद उस भक्षक-जीव का अंश बन सकने का गुण रखता हो।

---

१. `शक्ति-अनुकूलन` पद `वातानुकूलन` समास के आधार पर बनाया गया है।

इस परिभाषा के अनुसार प्रकृति का प्रत्येक अंश किसी-न-किसी का आहार है ।

ग्रहण किये गये आहार को आत्मसात्-योग्य बनाने की व्यवस्था का नाम पाचन-संस्थान है । पाचन-संस्थान प्रथम-आहार-ग्रहण के साथ जब एक बार क्रियाशील हो जाता है तो जीवन-पर्यन्त-सक्रिय रहता है । यदि किसी समय उस संस्थान को चलायमान रखने के लिए जीव में आहार न रहे तो क्षुधानुभूति के रूप में वह संस्थान अपनी आवश्यकता प्रकट कर देता है । आहार फिर भी उसे न मिले तो संस्थान अपना काम बन्द नहीं करता । जो आहार माँस, मेदा, रक्तादि के रूप में शरीर का अंश बन चुका होता है, उसे ही पचा कर वह अपनी क्रियाशीलता जारी रखता है।

शरीर में आर्द्रता बनाए रखने के लिए जलीय-तत्त्व की आवश्यकता होती है । इस आवश्यकता का बोध प्राणी को प्यास के रूप में होता है । समाई योग्य जल चोषण कर लेने के उपरान्त जो शेष बचता है वह मूत्र, स्वेद, वाष्प के रूप में विसर्जित हो जाता है । विसर्जन के बाद उसकी पूर्ति ज़रूरी है । इस प्रकार पुराना पानी निकाल कर नया डालते रहना — यह जल का अपना चक्र है जो जीवन-पर्यन्त चलता है ।

आहार के स्थूल-अंश शरीरांगों के विकास के रूप में प्रकट होते हैं और सूक्ष्मांश शक्ति के रूप में शरीर का ताप बनाए रखते हैं । शक्ति समा सकने की भी एक सीमा होती है । समाई योग्य शक्ति के घनत्व की एक विशेष अवस्था को प्राणशक्ति कहा जाता है । उस घनत्व से बढ़ी हुई शक्ति का विसर्जन होना शरीर का धर्म है । शरीर की चोषण-क्षमता के अतिरिक्त आहार के जो स्थूल अंश बचते हैं वे मल, मूत्र, स्वेद, बाल तथा रज के रूप में वि-सर्जित हो जाते हैं और सूक्ष्म अंश ऊर्जा बन कर दैनिक-क्रियाओं में

व्यय होते हैं। यदि उन दोनों---स्थूल तथा सूक्ष्म अंशों का विसर्जन शरीर-धर्म के अनुकूल, निश्चित् मात्रा, निश्चित् परिमाण में होता है तो विसर्जनावस्था सुखकर होती है। सुखद लगने वाले विसर्जनों की पुनरावृत्ति करने की इच्छा होती है, अत: प्राणी विसर्जन की अनुकूल विधियों का अभ्यस्त हो जाता है। जो विसर्जन शरीर-धर्म के प्रतिकूल होते हैं, उनसे प्राणी पलायन करता है, अत: वह उनका अभ्यस्त नहीं हो पाता।

आहार ग्रहण करना विसर्जित-अंशों की पूर्ति के लिए ज़रूरी है। इसलिए यह शरीर-धर्म के अनुकूल है, अत! आहार ग्रहण करना प्रथम सुख है। ग्रहण किये गये आहार में से शरीरांश बन सकने योग्य आहार के चोषित होने के उपरान्त, शेष का शरीर में रहना शरीर-धर्म के प्रतिकूल है, अत! उसका विसर्जन यानी मल-विसर्जन दूसरे प्रकार का सुख है। आहार के सूक्ष्म अंश — ऊर्जा का एक विशेष-घनत्व की सीमा से बढ़ जाना भी शरीर के लिए प्रतिकूल स्थिति है, अत: तीव्र क्रियाशीलता द्वारा ऊर्जा का विसर्जन करना तीसरे प्रकार का सुख है। ज़रूरी नहीं कि सुख की यह तीनों अवस्थाएं सभी प्राणियों में सन्तुलित अवस्था में हों। वातावरण की प्रेरणा द्वारा, यदि कोई प्राणी किसी एक प्रकार के सुख का अधिक अभ्यस्त हो जाता है तो उसके लिए शेष सुख गौण हो जाते हैं। वे गौण-सुख मुख्य-सुख के पूरक के रूप में अपनाए जाते हैं।

विसर्जन तभी सम्भव है जब शक्ति अर्जित-रूप में विद्यमान हो। आहार-ग्रहण की क्रिया अर्जन का मुख्य माध्यम है।

यों तो आहार ग्रहण करने और लिए गए आहार को पचाने में भी शक्ति खर्च होती है, किन्तु पचाने में जितनी व्यय होती है, पचाए जाने के बाद उससे कई गुना अधिक उत्पन्न भी

होती है, अत: आहार ` अर्जन ` का माध्यम समझा जाता है।

अर्जन का माध्यम एक है, किन्तु अर्जित-शक्ति के विसर्जन के माध्यम अनन्त हैं। प्राणी कुछ भी करे, इससे उसकी अर्जित शक्ति का कुछ-न-कुछ अंश स्खलित होता है। यदि वह कुछ भी न करे, मात्र जिये, तो भी कुछ-न-कुछ शक्ति का ह्रास होता है। इतना अन्तर अवश्य रहता है कि परिश्रम के समय शक्ति के क्षरण की मात्रा अधिक होती है, खाली समय में उससे कम और नींद के समय, जब कि प्राण-शक्ति शरीर के सारे अंगों से सिमट कर केवल भीतरी मर्म स्थानों तक सीमित हो जाती है, सबसे कम शक्ति व्यय होती है।

यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि कोई व्यक्ति परिश्रम से जी चुराए तो उस मितव्यय से बची शक्ति क्या उसकी प्राण-शक्ति को अधिक सबल बना देगी ? उत्तर नकारात्मक है। जिस प्राणी की शक्ति-शोषण की क्षमता जितनी है, उससे अधिक शक्ति का शरीर में संचित होना शरीर-धर्म के प्रतिकूल है। अनुकूलन-सिद्धांत के अनुसार शक्ति की आय-व्यय का लेखा लगभग बराबर होना चाहिए। या तो जीव को शक्ति-अर्जन के माध्यम घटाने होंगे अन्यथा अर्जित-शक्ति उसके अनचाहे में ही दूसरे रूप में विसर्जित हो जाएगी। यदि वह शारीरिक क्रिया-शीलता से बचेगा तो मानसिक-सक्रियता स्वत: ही बढ़ जाएगी। चिन्ता, चिन्तन, पश्चाताप आदि मानसिक-क्रियाएं अनन्त हैं। यदि वह कोई मानसिक-क्रिया न अपना सके तो विक्षिप्तावस्था द्वारा वह अपनी ऊर्जा का विक्षेप करेगा। यदि ऐसी स्थिति भी न आए तो अशोषित-शक्ति ' चर्बी के रूप में उसकी त्वचा की आड़ में तह पर तह जमाती चली जाएगी और उस ठोस

शक्ति का बोझ ढोते रहने में ही धारक भविष्य में उत्पन्न होने वाले अतिरिक्त-शक्ति के विसर्जन की राह खोज निकालेगा ।

उक्त प्रश्न का दूसरा पहलू भी है, कि यदि कोई व्यक्ति आहार न ले तो क्या वह अपनी शक्ति-विसर्जन की विधियों द्वारा बल-धारण जारी रख सकेगा ?

जी हां, जारी रख सकेगा । प्राण शक्ति विघनशील होकर तब तक विसर्जन क्रम-जारी रखेगी जब तक कि वह बिल्कुल समाप्त नहीं हो जाती ।

पहले कहा जा चुका है कि जीव कुछ करे या न करे, शक्ति का विसर्जन निरन्तर होता रहता है । यह क्रम जन्म से मृत्यु-पर्यन्त चलता है । आयु के अनुसार विसर्जन के माध्यम बदलते रहते हैं ।

विसर्जन के कुछ माध्यम बाल सुलभ होते हैं, युव-सुलभ और कुछ वृद्ध सुलभ । एक उम्र वाले के लिए विसर्जन का जो माध्यम लोकप्रचलित हो जाता है, दूसरी अवस्था के व्यक्ति के लिए उस माध्यम का अपनाना समाज को अप्रिय लगता है । किस अवस्था में शक्ति विसर्जन का कौन-सा माध्यम प्रचलित है यह नीचे दिए गये विवरण द्वारा स्पष्ट है :—

शैशव — इस आयु में शरीराणु नूतन होते हैं । उनमें चोषण-क्षमता अधिक होती है, इसलिए विसर्जन के लिए शक्ति अधिक नहीं बचती, अतः शिशु का जागरण काल अल्प होता है और निद्रा काल बड़ा होता है । आहार का अधिकतम भाग आत्मसात् होकर शरीर के अवयवों का वर्द्धन करता है । कम्पन-चक्र जारी रखने के लिए कुछ-न-कुछ विसर्जन आवश्यक है, अतः वह अपनी थोड़ी बहुत शक्ति रोने, चिल्लाने, पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति से मुक्त होने, (हाथ-पाँव हिलाने-डुलाने,) हर्ष-भय आदि

आवेगों के रूप में विसर्जित करता है ।

बाल्यावस्था): आहार शैशव से बढ़ जाता है; अत: शक्ति अधिक बनती है । मारने-पीटने, तोड़ने-फोड़ने, रोने-रुलाने, कूदने-फाँदने, पढ़ने-लिखने, अनाप-शनाप बकने-झकने तथा हर्ष-भय आदि आवेगों में वह अपनी शक्ति व्यय करता है। शरीर-कोषों में चोषण-क्षमता अब तक काफी होती है, अत: अर्जित-शक्ति का बड़ा भाग शारीरिक विकास में लगता रहता है ।

किशोरावस्था तथा यौवन): आहार बाल्यावस्था से बढ़ जाता है जिससे शक्ति अधिक बनने लगती है । शरीर-कोषों की चोषण- क्षमता की जितनी सीमा होती है, उस सीमा तक शरीर का पूर्ण विकास हो चुकता है, अत: शक्ति चोषित कम होती है । आस-पास की वस्तुओं के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त हो चुकी होती है, इसलिए अनावश्यक तोड़-फोड़ की जरूरत भी नहीं रहती । सामाजिकता का अभ्यास हो चुकने के कारण ग़ैर ज़रूरी लड़ाई-झगड़ों से भी आदमी दूर भागता है । सिर पर जिम्मेवारियां पड़ जाने के कारण कूदने-फाँदने की राहें भी करीब-क़रीब बन्द हो जाती हैं । जीविकोपार्जन का एक काम बढ़ता है, किन्तु वह उतनी अधिक शक्ति क्षरित नहीं करता, जितनी कि अधिक आहार उत्पन्न करता है, अत: शरीर में शक्ति अधिक घनी होने लगती है । जब वह घनत्व विस्फोटक अवस्था तक पहुँच जाता है, तो वह घनीभूत-शक्ति कुछ विशेष ग्रन्थियों को क्रियाशील बना देती है । फलस्वरूप निगाह बदलने लगती है । एक अनजाने से तनाव की अनुभूति होती है । उस तनाव से मुक्ति पाने की राह खोजी जाती है । एक ऐसी राह जिससे कम-से-कम समय में अधिक-से-अधिक शक्ति विसर्जित हो सके, वह राह

उत्तेजना की होती है।

वह घनीभूत-शक्ति ग्रंथियों को कैसे सक्रिय करती है ? इस प्रश्न का उत्तर शायद इस समय देना सम्भव न हो, लेकिन इस दिशा में और अधिक चिन्तन-परीक्षण करने पर सम्भव है भविष्य में इस प्रश्न का उत्तर मिल सके।

ऊपर शक्ति-विसर्जन के तीव्र-स्रोत के रूप में 'उत्तेजना' का नाम लिया गया है। "मैथुन" शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। वह इसलिए कि मैथुन तो यौनोत्तेजना के शमन का एक साधन है। यौन-उत्तेजना के अलावा भी कुछ उत्तेजनाएं हैं, जिनकी चर्चा यथा अवसर आगे की जाएगी।

मनन, चिन्तन, काम-काज तथा मनोरंजन के अन्य साधनों के द्वारा भी युवक अपनी शक्ति विसर्जित करता है, किन्तु विसर्जन के ये अन्य साधन यौनोत्तेजना की तरह सर्वमान्य नहीं हैं।

प्रौढ़ावस्था — कोषाणुओं की नूतनता समाप्त हो चुकी होती है, उनकी शक्ति-चोषण की क्षमता का ह्रास होने लगता है, किन्तु विसर्जन के माध्यम जो यौवन-काल में अपनाए गये थे, अभ्यासवश छूटते नहीं। अर्जन से विसर्जन बढ़ जाता है। ऐसे में अनुकूलन बनाए रखने के लिए संचित शक्ति काम आती है। अर्जन-विसर्जन-क्रम में व्यवधान नहीं आने पाता।

वृद्धावस्था — यही वह अवस्था है जब संचित शक्ति समाप्त हो जाती है। अर्जन-क्षमता नष्टप्राय हो चुकी होती है। शरीर के कोष एक-एक करके कम्पन-हीन होते जाते हैं। जैसे तेज रफ़्तार से आती हुई साईकिल, पैडल मारना बन्द कर देने के बाद भी पिछली गति के आधार पर कुछ और आगे तक चल जाती है, उसी प्रकार वृद्ध जीवित रहने का अभ्यस्त होने के

कारण, अर्जन और विसर्जन के बीच के छोटे-मोटे व्यवधानों के बावजूद भी जीवित रहता है। किसी एक ऐसे समय में, जब वह व्यवधान कुछ बढ़ जाता है, शरीर के कोषाणु अपना स्पन्दन समाप्त कर देते हैं। यही अवस्था जीव की मरणावस्था होती है।

शैशव, बाल्यावस्था, किशोरावस्था, यौवन, प्रौढ़ावस्था तथा बुढ़ापा, वास्तव में इन अवस्थाओं का उम्र के वर्षों के साथ इतना सम्बन्ध नहीं है, जितना शरीर के अनुकूलन धर्म के साथ है। यौवन की जो आयु साधारणतः मानी और समझी जाती है, उस में यदि अर्जन कम और विसर्जन अधिक हो तो अपने मानक समय से पूर्व प्रौढ़ावस्था आ सकती है और संचित-शक्ति के अभाव में प्रौढ़ावस्था के मानक काल में जरावस्था व्याप्त हो सकती है। प्रौढ़ावस्था तो दूर की बात है, शैशव में ही जरावस्था के लक्षण दिखाई पड़ सकते हैं।

............:.

मल-अनुकूलन-प्रवृत्ति

मल जुगुप्सा का जनक समझा जाता है और यौन-व्यवहार से सम्बन्धित इस निबन्ध में मल-चर्चा असंगत-सी लगती है। लेकिन इस विषय की चर्चा कई कारणों से आवश्यक है। पुरुष के युव-सुलभ बालों का निकलना तथा नारी का ऋतुमती होना, शरीर की इसी मल-अनुकूलन-प्रवृत्ति पर ही आश्रित होता है।

शरीर में अतिरिक्त कुछ भी रहने की गुंजाइश नहीं होती। शरीरांश बनने योग्य तत्त्व चोषित करने के बाद शेषांश को कफ़, स्वेद, मूत्र, विष्ठा आदि के रूप में निकाल देना शरीर का धर्म है। मल-अनुकूलन की अनियमितता से उत्पन्न होने वाली सामान्य अवस्थाएं चिकित्सा-विज्ञान के परीक्षण का विषय हैं। प्रस्तुत प्रकरण में हमें मल की मात्र उन किस्मों का उल्लेख करना है जो नर तथा मादा की यौन-सम्बन्धी शारीरिक विशिष्टताओं की नियामक हैं।

शरीर-धर्म के अनुकूल खान-पान से शरीर का समस्त अनुकूलन-कार्य स्वत: होता रहता है। प्रतिकूल आहार अनुकूलन-धर्म में बाधक होता है। हम में से अधिकतर व्यक्तियों का आहार पूर्णत: अनुकूल हो नहीं सकता, इसलिए नियमपूर्वक मल-निष्कासन होते रहने के बावजूद मल के कुछ अंश देह में रह जाते हैं, जिन्हें न तो हमारा शरीर पचा ही पाता है और न बाहर ही निकाल पाता है। इन अवशिष्ट अंशों को विजातीय-द्रव्य कहा जाता है। जब तक ये विजातीय-द्रव्य शरीर में विरल रूप से रहते हैं तब तक विशेष प्रतिकूल

स्थिति उत्पन्न नहीं होती, लेकिन जब ये किसी स्थान पर अधिक परिमाण में एकत्र हो जाते हैं तो फोड़े, फुँसी, ज्वर आदि के रूप में इनका निकास होने लगता है। उस निकास के बाद शरीर फिर निर्मल हो जाता है। अपने आन्तर को स्वच्छ रखना शरीर का धर्म है। शरीर के इस धर्म पर हमारी आस्था होना स्वाभाविक है। परन्तु नारी-जीवन में ऐसी अवस्था भी आती है जिसमें हमारी उक्त आस्था डगमगाने लगती है।

हम सब जानते हैं कि पुरुष अपना जो शुक्राणु नारी के हवाले करता है, वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है और नारी की देन 'डिम्बाणु' भी कम सूक्ष्म नहीं होता। उन दोनों का संयुक्त-अणु २८० दिन के बाद शिशु के रूप से जन्मता है तो वह सात-आठ पौंड का एक स्थूल शरीर होता है। जो युगुलाणु नौ मास पूर्व नंगी आँखों से दिखाई भी न देता था, उसने थोड़े अर्से में कई पौंड का शरीर धारण कर लिया। वह देह कहीं बाहर से नहीं आयी, यह नारी की देह का ही अंश है। उसका विभक्त अंश है। ऐसे विभाजन एक औसत नारी नौ-नौ मास के अन्तर से जीवन में दर्जनों बार करने में सक्षम है और वही नारी उतनी अक्षम भी हो सकती है कि जीवन भर ऐसा कोई शरीर न ढाल पाए। ताज्जुब यह है कि न वह घटी दिखती है और न यह बढ़ी हुई दिखाई देती है।

शिशु को जन्म देने के उपरान्त भी नारी का शिशु के प्रति उत्तरदायित्व रहता है। उसी के शरीरांश दुग्ध के रूप में शिशु के आहार की व्यवस्था करते हैं। इतना कुछ निष्कासन करती रहने के बावजूद भी वह स्वस्थ बनी रहती है।

यह सब देखते हुए ऐसा लगता है कि शरीर कुछ ऐसी व्यवस्था है जिससे वह अपने में कुछ-न-कुछ अतिरिक्त रूप से रख

सकती है। यदि ऐसी व्यवस्था न होती तो शरीरांश का बराबर क्षय करती रहने वाली नारी अपना शारीरिक-सन्तुलन ही बिगाड़ लेती। लेकिन हम देखते हैं कि यह सन्तुलन बिगड़ता नहीं है। कारण यह है कि प्रकृति ने प्रजनन कार्य नारी के जिम्मे लगाते ही उसमें कुछ-न-कुछ अतिरिक्त बनते रहने की व्यवस्था भी रच दी है। शुक्राणु धारण करने योग्य आयु तक पहुँचते ही उसके क़द का विकास रुक जाता है। किन्तु आहार का शरीरांश के रूप में बनते रहना जारी रहता है। क़द से बचे हुए शेषांश, उसके प्रजनन-संस्थान तथा उससे सम्बन्धित भागों को सुरक्षित बनाने के लिए, उन स्थानों के आस-पास रक्त-मांस व चर्बी की अतिरिक्त पर्तें जमाने लगते हैं। दूसरे शब्दों में उसके नारीत्व-प्रधान अंग पुष्ट बन जाते हैं।

गर्भाशय की सुरक्षा के लिए माँस-वसा का पहला प्रलेपन नितम्ब प्रदेश पर होता है। दूसरी पर्त शिशु के आहारदाता प्रदेश पर चढ़ती है। यहाँ की व्यवस्था कर लेने के बाद शेष अतिरिक्त अंश रज के रूप में बाहर निकलने लगते हैं और वे तब तक निकलते रहते हैं, जब तक नारी के गर्भवती होने की सम्भावना रहती है।

जब कभी शुक्राणु और डिम्बाणु का संयोग होता है, तब रज को भीतर टिकने का मानो एक आधार मिल जाता है। उस समय रज अन्तर्मुखी होकर सूक्ष्म-अणु को स्थूल बनाने लगता है। स्थूल के बाहर आने पर उसे आहार देने के निमित्त फिर वही रज ऊर्ध्वमुखी होकर छाती का दूध बन जाता है। रज को अन्तर्मुखी या ऊर्ध्वमुखी बनाने के लिए जब शरीर में कोई आधार नहीं रहता तो वही रज बहिर्मुखी हो कर मासिक-धर्म बन जाता है।

जिस समय रज को खपाने के लिए शरीर में कोई आधार होता है, उस समय रज शरीर के लिए धातु के समान होता है, फलत: इसका निष्कासन शरीर धर्म के प्रतिकूल है। जब खपत का कोई आधार शरीर में नहीं होता, तब वही रज शरीर के लिए मल (विजातीय-द्रव्य) हो जाता है। उसका निकलना शरीर के लिए आवश्यक है। उसके रुकने से अनेक व्याधियाँ शरीर को धर कर लेती हैं।

नारी में रजस्वला होने का गुण ही उसे गर्भवती बनने के योग्य बनाता है। यदि उसमें यह गुण न होता तो मानव जरायुज न होता। उसकी प्रजनन-व्यवस्था और तरह की होती, जैसी कुछ अ-जरायुज जीवों की होती है।

इस कल्पना का आधार परीक्षण नहीं, निरीक्षण है। कल्पना के अनेक पक्ष होते हैं। उन अनेक पक्षों में से किसी एक सम्भावना को परीक्षण द्वारा सिद्ध करना `विज्ञान` का कार्य है। अब तक का विज्ञान क़द के विकास का कारण कुछ ग्रंथियों को मानता चला आ रहा है। परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध भी हो चुका है कि उन ग्रंथियों को निष्क्रिय या अधिक क्रियाशील बना कर क़द को सीमित या विस्तृत किया जा सकता है। ग्रंथियों की इस क्षमता पर आपत्ति करना हमारा लक्ष्य नहीं है, अपितु हमारा आशय मात्र इतना है कि उन ग्रंथियों के स्रवन के पीछे किसी-न-किसी रूप में शरीर की यही मल-अनुकूलन-प्रवृत्ति है। अतिरिक्त मल या अतिरिक्त शक्ति का घनत्व-विशेष से बढ़ जाना सम्बन्धित ग्रंथियों का किसी-न-किसी प्रकार से नियमन करता है। ग्रंथियाँ स्वयं नियामक नहीं है। साथ ही हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि ग्रंथियों के सम्बन्ध में अब तक जो जानकारी शरीर-विज्ञान प्राप्त कर चुका है, वह ज्ञान की अंतिम सीमा नहीं है।

सम्भव है कि शरीर में अभी कुछ ऐसी अज्ञात ग्रंथियाँ भी हों, जिन्हें आने वाली पीढ़ियां खोज निकालें और इस प्रकार वे अपनी नूतन जानकारी के आधार पर हमारे अव तक के `विज्ञान` समझे जाने वाले ज्ञान को निराधार कहने लगें और अपनी नयी मान्यताएं स्थिर करें ।

क़द के वारे में यह धारणा व्यक्त करने के वाद कुछ प्रश्न उठाए जाने की सम्भावना पैदा हो सकती है । मसलन यह कि पहली वार क़द की वाढ़ रुकने से जो धातु वची, उसने नारी के प्रजनन-सम्वन्धी अंगों को सुरक्षित वनाया । उसके पश्चात् जो तत्त्व वचें, वे रज वने । लेकिन पुरुष में इस अवस्था में न तो कोई अंग ही विकसित होता देखा जाता है और न उसके शरीर से रज सरीखा कोई क्षारण दिखाई पड़ता है । फिर पुरुष का आकार कुछ और वढ़ कर क्यों रूक जाता है ?

इसके उत्तर में यह कहना है कि पुरुष भी रज सरीखा एक तत्त्व क्षारित करता है, वह तत्त्व है पुरुष के युव-सुलभ वाल । जिस उम्र में वाला सर्वप्रथम रजस्वला होती है, उसी उम्र में किशोर की मसें भीगने लगती हैं । शरीर की विकास-क्षमता के अनुसार शरीर के विकसित हो चुकने के उपरान्त नारी के शेषांश रज:स्राव के रूप में निकल जाते हैं और पुरुष युव-सुलभ वालों से अलंकृत हो जाता है ।

पुरुष-सुलभ वालों के सम्वन्ध में यह धारणा निराधार नहीं है । आयुर्वेद-दर्शन इस वात को मानता चला आ रहा है कि `श्वमश्रु शुक्र का मल है ।` आयुर्वेद-दर्शन इतना संकेत देकर ख़ामोश हो गया है । मैं उस सूत्र से सम्वन्धित सम्भावनाओं पर निरन्तर विचार करता रहा हूँ और मुझे लगा है कि यह सूत्र निराधार नहीं है ।

आम तौर पर 'रज' का पुरुष-पर्याय 'वीर्य' समझा जाता है, लेकिन ऐसा नहीं है। प्रजनन के दृष्टिकोण से नारी और पुरुष में यदि एक-दूसरे के पर्याय कोई हैं तो वे शुक्राणु और डिम्वाणु हैं। वीर्य शुक्राणुओं का वाहन है, उसकी इस उपयोगिता के कारण उसका महत्त्व है, लेकिन रज का ऐसा कोई महत्त्व नहीं। नारी की आन्तरिक व्यवस्था इस प्रकार की है कि उसके डिम्व के लिए किसी द्रुतगामी वाहन की आवश्यकता नहीं होती। डिम्वाणु को गर्भाशय के आसपास रहकर शुक्राणु की प्रतीक्षा करनी होती है। जव डिम्व और शुक्र का मेल हो जाता है तो रज को अन्तर्मुख होने का आधार मिल जाता है। जव डिम्ब की प्रतीक्षा विफल हो जाती है, तो रज उस डिम्ब के शव का वाहन वन जाता है। इस दृष्टि से रज का कार्य-क्षेत्र वीर्य के कार्य-क्षेत्र से एकदम भिन्न हो जाता है।

यहां एक प्रश्न और किया जा सकता है कि यदि वाल रज का पर्याय है तो फिर नारी-कुन्तलों को किस श्रेणी में रखा जाए। शिशु हो या किशोर, पुरुष हो या नारी, उन सवकी पूरी त्वचा छोटे-वड़े रोमों से भरी हुई है। पुरुष और नारी के शरीर के वालों में यदि कोई अन्तर है तो इतना कि नारी के रोम अपेक्षया कम लम्वे, कम घने होते हैं और पुरुष के वालों की स्थिति इससे विपरीत होती है। कई स्थानों पर पुरुष और नारी — दोनों के वाल एक जैसे लम्वे व घने होते हैं ; जैसे सिर, गुह्यांग के आसपास तथा वगलों के वाल।

नारी और पुरुष के वालों की इस आँशिक समता का कारण यह है कि जिन मूल-तत्त्वों से पुरुष वना है, नारी-देह की रचना में भी वही तत्त्व काम आए हैं। अन्तर केवल कमी

और अधिकता का है, अत: पुरुषांगों के समकक्ष सभी अंग नारी में और नारी-अवयवों के समकक्ष सभी अंग पुरुष में, विकसित अथवा अर्द्ध-विकसित अवस्था में विद्यमान हैं। जिस प्रकार नारी-अलंकार कुच,अर्द्ध-विकसित अवस्था में पुरुष के पास हैं, उसी प्रकार पुरुष के रोम-गुण से नारी भी विभूषित है।

रोम शरीर का वह मल है जो न पच सका और न ही शौचादि के रूप में निकल सका। वह मल या विजातीय-द्रव्य नर-नारी तथा शिशु, सब में होता है। अत: रोम सर्व-सुलभ है। लेकिन यहाँ इशारा सर्व-सुलभ-रोम की ओर नहीं है, अपितु उन बालों की ओर है जो वय:संधि-काल में केवल पुरुष का शृंगार-प्रसाधन बनते हैं।

शरीर-रचना से सम्बन्धित जरा-सी जानकारी रखने वाला व्यक्ति यह जानता है कि हर बाल अपने आप में एक पूरा वृक्ष है। उसकी जड़ एक स्नेह-सिक्त कूप में डूबी रहती है। वह स्नेह बाल का पोषण और वर्द्धन करता है। साधारण अवस्था में रोम की जड़ को जितनी स्निग्धता मिलती है वह बालों को विशेष स्थूल और विशेष लम्बा बनाने के योग्य नहीं होती। उससे बालों को उतना पोषण मिलता है,जितना सर्व-सुलभ बालों को प्राप्त होता है। जब बाल की जड़ को अति-रिक्त द्रव्य का पोषण मिलने लगता है तो उससे उन पोषित स्थानों के बाल विशेष-घने, विशेष-मोटे और विशेष-लम्बे बनने लगते हैं।

यौवन में व्यक्ति का आहार बढ़ता है। अधिक आहार से अधिक शक्ति का उत्पादन होता है। शक्ति के अधिक बढ़ने के साथ साथ विजातीय-द्रव्य भी अधिक बनते हैं। उन द्रव्यों के खपाने के लिए नारी में तो भ्रूण-विकास की व्यवस्था होती है,

वह व्यवस्था पुरुष में नहीं होती, अतः पुरुष के वे अतिरिक्त-द्रव्य शरीर के उन्हीं प्रदेशों के रोम-कूपों को वल देने लगते हैं, जो प्रदेश नारी शरीर में रज द्वारा प्लावित समझे जाते हैं। यानी जहाँ नारी के स्तन पुष्ट होते हैं वहाँ पुरुष की छाती घने वालों से भर जाती है। यौवन में नारी के नितम्ब प्रदेश, पिंडलियां, कन्धे, उँगलियों के पोर, पीठ, कपोल आदि गदराने लगते हैं। पुरुष में उन्हीं स्थानों के वाल अधिक लम्वे और स्थूल होने लगते हैं।

आहार के कौन-से अंश रोम नामक मल की रचना करते हैं, इस सम्वन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। आहार में अजाने तत्त्वों की अधिकता से रोम-निर्मात्री ग्रंथियों को वल मिलता है। आहार में रोमवर्द्धक विजातीय-द्रव्य के कम या अधिक होने पर रोमावली कम या अधिक घनी वनती है।

सघन रोमों की चर्चा करने पर पशुओं की वालों भरी खाल का ध्यान आना स्वाभाविक है और वस्तुतः पशुओं की घनी रोमावली वनने के कारणों पर विचार किए विना वात पूरी भी नहीं होती।

जैसे कि हम सभी जानते हैं कि जरायुज पशुओं में, नर और मादा दोनों की देह पर मानव-देह की अपेक्षा अधिक घने रोम होते हैं। उसका जो कारण समझ में आता है, वह यह है कि पशु, वीज, पत्ते, छिलके आदि पदार्थ खा जाते हैं। छिलके और वीज में जीवन-तत्त्व अधिक होते हैं। इससे शक्ति वेशक अधिक वनती है, पर इसके साथ-साथ उन पदार्थों के अपचे तत्त्व भी शरीर में अधिक रह जाते हैं। वे तत्त्व सघन रोमावली के रूप में त्वचा को फोड़ कर वाहर निकल आते हैं। एक ओर वह रोमावली पशुओं के

शरीर की भीतरी व्यवस्था को निर्मल बनाती है, दूसरी ओर सर्दी-गर्मी से बचाने के लिए वही रोमावली उनके लिए लिवास का काम करती है। दो स्थान ऐसे हैं,जहां पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों के वाल अधिक होते हैं। एक सिर के बाल और दूसरे मूँछ-दाढ़ी के वाल। इन दो स्थानों के बालों को मानव का अर्जित-गुण समझा जाना चाहिए। कपड़ों के प्रयोग के साथ इस मानव-गुण का विकास हुआ है, जो आज उसका अलंकार बन चुका है।

इन अलंकारों को धारण करने के विकास के पीछे मानव के लाखों वर्षों के संघर्ष का इतिहास है। वह शुरू से ही अपने आकार के अन्य जीवों की तुलना में शारीरिक-शक्ति के क्षेत्र में अपेक्षाकृत अशक्त रहा है। उसका पाचन-संस्थान भी अन्य जीवों की तुलना में अधिक कमजोर रहा है। कल्पना की जा सकती है कि आदिमानव भी पाचन-संस्थान के क्षीण होने के कारण कम-कड़े भक्ष्य खाता होगा या भक्ष्य-पदार्थों के कड़े भाग उतार देता होगा या कड़े-भक्ष्यों को पका कर खाता होगा। इस प्रकार बाहर की अग्नि के प्रयोग ने जठराग्नि का काम घटा दिया होगा। उसके इस प्रबन्ध के कारण उसमें अपचे अंश पशुओं के अपचे-अंशों की तुलना में कम बनते होंगे। फलस्वरूप वह बालों के मामले में अपने समकालीन पशुओं से पिछड़ गया होगा। अपनी क्षीण रोमावली से वह अपने शरीर को सर्दी-गर्मी से पूरी तरह बचा न पाता होगा। उसने अन्य पशुओं के चर्म उतार कर अपना तन ढाँपा होगा। सघन रोमावली के बदले उसने कृत्रिम-आवरण अपनाया होगा। उस कृत्रिम-आवरण ने उसकी क्षीण-रोमावली का रहा-सहा लाभ भी नष्ट कर दिया होगा, जिसकी आदि-मानव को कतई चिन्ता न हुई होगी क्योंकि

उसके पास ऐसा आवरण था, जिसे वह जब चाहे उतार-पहन सकता था। वह पशुओं के प्रकृति-प्रदत्त लिवास से अधिक लाभ-प्रद था, जो जब चाहे उतारा वदला नहीं जा सकता।

आवरण ने आदि मानव के तन का सम्पर्क प्रकृति से न रहने दिया होगा जिसका फल यह हुआ होगा कि उसकी क्षीण रोमावली आवरण के प्रयोग के कारण और भी अधिक क्षीण तथा विरल हो गयी होगी। शरीर का जितना थोड़ा-सा अंश आवरण से वाहर रहता होगा ; उतने भाग के रोम-कूपों पर भीतरी विजातीय-द्रव्य का दवाव वढ़ गया होगा। परिणा-मत: उसके उस अल्प स्थान के बाल अत्यधिक लम्बे हो गये होंगे। नारी में चूंकि विजातीय-द्रव्य-निष्कासन का एक माध्यम रज होता है, इसलिए उसके रोम नामी मल के निष्कासन का क्षेत्र पुरुष के क्षेत्र से कम -- यानी सिर, वगलों आदि तक सीमित रहा होगा और पुरुष में `रज` जैसी निष्कासन-व्यवस्था के अभाव के कारण,उसका रोम-निष्कासन क्षेत्र विस्तृत हो गया होगा। फलस्वरूप उसका चेहरा भी रोमावली से भर गया होगा।

नर के चेहरे पर एकदम रोम-सघनता तथा नारी के चेहरे पर एकदम रोम-विहीनता का यह भेद शुरू में शायद इतना न रहा होगा, जितना अब है। अलवत्ता उस भेद की नींव उस समय पड़ गयी होगी। वाद में उस भेद को और अ-धिक गहरा करके नारी ने अपने आप को रूपमती माना होगा और पुरुष ने नारी-विशिष्टता की विपरीत दिशा में चल कर अपने आकर्षण का रहस्य पाया होगा।

यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आदि मानव ने अपने रोमों का स्थानान्तरण ठीक उसी तरह किया होगा जिस तरह ऊपर कल्पना की गयी है। यह सम्भावना का

केवल एक पहलू है जिसे विज्ञान ने सिद्ध अथवा असिद्ध करना है ।

किसी सम्भावना का पहले पहल उपस्थापन करते समय उसके सब पहलू सामने नहीं आ सकते । मसलन यह कि संसार में मासिक धर्म से रहित स्त्रियों तथा रोम-विहीन-पुरुषों का अस्तित्व भी है । पुरुष-सुलभ बालों से युक्त स्त्रियां भी हैं,जो इस पुरुष-गुण से विभूषित होने पर भी गर्भ धारण करने में पूर्णत: सक्षम होती हैं और कुछ नारियां रजस्वला हुए बिना जननी बनती भी देखी गयी हैं और शिशु को स्तन द्वारा आहार देने के काल में भी स्त्रियां रजोमती होती रहती हैं । ये सब अवस्थाएं अपवाद की सूचक हैं जिनका निरीक्षण-परीक्षण अपेक्षित है ।

हाँ ! पशुओं के घने बाल बनने के कारणों पर और विचार किए बिना मल-अनुकूलन-सम्बन्धी सभी उपर्युक्त धारणाओं की पुष्टि नहीं हो सकती है । वह पुष्टि न हो सकने का मुख्य कारण यह है कि मानव ने अपने स्वार्थ के लिए पशुओं का रूप इतना विकृत कर दिया है कि वे किसी भी सिद्धांत-रूपी कसौटी पर ठीक तरह से परखे नहीं जा सकते ।

द्रव्य-गुण-विज्ञान-सम्बन्धी अभूतपूर्व जानकारी के कारण मानव ने अपने सम्पर्क में आए सभी पशुओं की शक्ति तथा आयु का हरण करके उन्हें अल्पजीवी और खुद को अपेक्षाकृत दीर्घजीवी बना लिया है । मानव ने किसी का सम्पूर्ण रज और रक्त दूध के रूप में दुह लिया है और किसी की सारी शक्ति, सारा पुंस्त्व अपने उपयोग के लिए खपा डाला है । किसी को गोश्त की खेती के उपयुक्त समझ कर उसके समस्त शारीरिक-द्रव्यों को माँस का रूप दे दिया है और किसी की पूरी जीवन-शक्ति ऊन के रूप में

निचोड़ डाली है। ऐसे स्वार्थी मानव के सम्पर्क में लाखों वर्षों से आए हुए पशुओं पर किया गया कोई परीक्षण सही परिणाम देने वाला सिद्ध नहीं हो सकता और जो पशु मानव-सम्पर्क से दूर समझे जाते हैं, ग़ौर करने पर ज्ञात होता है कि वे भी परोक्ष रूप से मानव-सम्पर्क के अति-व्यापक घेरे के भीतर ही हैं।

....

प्रकरण — २

तथाकथित यौन-विच्युतियाँ

तथाकथित यौन-विच्युतियां

काम का जो सर्वव्यापी-स्वरूप पिछली और इस शताब्दी के मनोविश्लेषकों द्वारा स्पष्ट किया गया है, उससे नयी पीढ़ी में एक भ्रम फैला है। यह उसी भ्रम का प्रभाव है जो आज यौन-स्वेच्छाचार को आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा है और महसूस किया जाने लगा है कि अब वह समय आ गया है जब काम की व्यापकता के सम्बन्ध में फैली हुई धारणाओं को एक बार फिर परखा जाए।

मनोविश्लेषण-मतावलम्बी यह मान कर चलता है कि सकल विश्व काम-मय है। इस बात के सिद्धांत-रूप में मान लेने के बाद यह खोज करना उसके लिए ज़रूरी बन जाता है कि शिशु में, जो विश्व का एक प्राणी है, काम का निवास किस रूप में है? पर्यवेक्षण से उसे ज्ञात होता है कि शिशु को अँगूठा चूसना प्रिय है।

'जहाँ सुख है वहाँ 'काम' है', इस वाक्य पूर्ण आस्था रखने वाला वह चिन्तक शिशु की अँगूठा चूसे जाने की क्रिया को यौन के अन्तर्गत एक क्रिया मान लेता है। इस बात को आगे बढ़ा कर वह यों कहता है — 'अँगूठा माता के स्तन का प्रतीक है। स्तन के प्रति शिशु की वह आसक्ति ही बाद में कुच-आसक्ति बन जाती है।' लड़की के स्तन-प्रेम के विस्थापन के सम्बन्ध में भी मनोविज्ञान के पास दूसरा उत्तर होगा, लेकिन इस समय हमें यह सोचना है कि अँगूठा चूसने के पीछे जो सुख है, वह यौन-सुख है या कोई और सुख है।

स्तन से शिशु को आहार मिलता है, इसलिए उसके प्रति उसकी आसक्ति स्वाभाविक है। आहार ग्रहण करना उस

की वर्द्धनशील-काया के लिए अनुकूल है और यह अनुकूल-कार्य मुख-द्वार से होता है, अत: उसके लिए सुख का माध्यम मुख बन जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि हाथ में आने वाली प्रत्येक वस्तु मुख में डालना उसकी सहज-प्रवृत्ति हो जाती है। यदि हाथ में कोई वस्तु न हो तो वह खाली हाथ भी मुँह की ओर ले जा सकता है। हाथ की उँगलियों या अंगूठे के रूप में उसे मानो एक ऐसी वस्तु मिल जाती है, जिसमें न कड़वापन होता है, न सख्ती होती है। एक ऐसी गदरायी हुई वस्तु, जिसे चूसते समय शक्ति का विसर्जन तो होता है, किन्तु आहार नहीं मिलता। इस प्रकार वह शक्ति-विसर्जन के एक माध्यम के रूप में अँगूठा चूसने का व्यसनी बन सकता है।

बड़ी उम्र के व्यक्ति भी जिन खाद्य पदार्थों को व्यसन के रूप में ग्रहण करते हैं, वे वही पदार्थ है जिनमें आहार का अंश या तो होता नहीं, यदि होता भी है तो बहुत कम। जिस वस्तु में आहार-अंश होता है, उसे तो व्यक्ति अपनी चोषण-क्षमता से अधिक ले ही नहीं सकता। जैसे दूध, घी, रोटी। ऐसी वस्तुओं का चोषण-क्षमता से अधिक पीना, खाना शरीर-धर्म में तुरन्त बाधा उत्पन्न करता है, अत: ऐसी वस्तुएं भूख के समय ली जाती हैं। भूख न होने या तृप्ति हो जाने पर इनकी चाह खत्म हो जाती है, इसलिए सामान्य व्यक्ति इस प्रकार के खाद्य पदार्थों का व्यसनी नहीं बन सकता। व्यसन उस वस्तु का पड़ता है जिसे माध्यम बना कर खाने-पीने या चबाने की चेष्टा तो जारी रह सकती हो, किन्तु उससे मिलता-मिलाता कुछ न हो — जैसे चाय, पान, तम्बाकू। उनकी चाह सदैव बनी रह सकती है। ऐसी वस्तुओं का अधिक सेवन शरीर-धर्म में सहसा कोई बाधा उत्पन्न नहीं करता, जब बाधा उत्पन्न होने का अवसर आता है तब तक

व्यक्ति उन वस्तुओं का इतना अभ्यस्त हो चुका होता है कि उन्हें छोड़ नहीं सकता ।

लेकिन सभी बच्चे तो अँगूठा चूसने के अभ्यस्त नहीं होते । कोई एक उसका अभ्यस्त बन गया, दूसरा न बन सका — इसका कारण ढूँढने लगें तो कोई उपयुक्त कारण शायद हम न ढूँढ पाएं, क्योंकि प्रत्येक प्रकट-क्रिया के पीछे सूक्ष्म कारण इतने होते हैं कि उन सबका ज्ञान हो सकना किसी भी पर्यवेक्षक के लिए सम्भव नहीं होता । जो भी निष्कर्ष निकाले जाते हैं, उनका आधार अनुमान होता है । अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है, कि जो शिशु अगूठा चूसने का अभ्यस्त नहीं बना, उसका कारण शायद यह था कि जिस क्षण उसकी उँगलिया मुँह में गयी थीं, उस समय उसका पेट खाली था । उसे सचमुच के आहार की आवश्यकता थी, जो उसे स्तन से मिल सकता था । उस समय खाली अँगूठा यदि उसके मुँह में जाता भी तो तत्कालीन-आवश्यकता पूरी करने में असमर्थ होने के कारण उसे मुँझलाने की प्रेरणा देता । कम-से-कम वह सुख का आधार नहीं बन सकता था । वह एक क्षण उसके पूरे शैशव-काल पर हावी हो सकता है ।

जो लोग पूरी एक शताब्दी से जीव की सभी प्रक्रियाओं की धुरी 'काम' को ही समझते चले आ रहे हैं, उनके लिए एकदम यह मान लेना कठिन है कि किसी सुखद-क्रिया के पीछे काम के अलावा भी कोई प्रवृत्ति हो सकती है । जब किसी सुखद क्रिया सुखद लगने का कारण उनकी समझ में नहीं आता है तो वे अपने शब्द-कोश में से ऐसा शब्द ढूड लेते हैं जिससे उस क्रिया का काम से संबंध प्रकट हो जाए । उनके शब्द-कोश में एक पद यौन-विच्युति है, जो हर उस क्रिया के लिए प्रयुक्त हो सकता है, जिससे सुख तो मिलता हो, किन्तु मुख्य यौन-कर्म (मैथुन) से उसका प्रकटत: सम्बन्ध दिखाई न

देता हो । विच्युति का अर्थ है — वह लक्षण जो सार्वभौम रूप से च्युत हो गया हो ।

हर सुखद क्रिया के साथ पहले `यौन` शब्द का प्रयोग करना, फिर उसके साथ `विच्युति` लगाकर उसे यौन-कर्म के मानक रूप से च्युत कर देना, मानो चिन्तन से पलायन करना है । बेहतर है कि उस सुखद-क्रिया की पृष्ठभूमि देखी जाए । यदि उस क्रिया के पीछे काम के अतिरिक्त कोई और भाव हो तो उस भाव का कोई नया स्वतंत्र नाम रखा जाए ।

इस प्रकरण में सुख के उन कुछ साधनों की पृष्ठभूमि में झाँकने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिनका सम्बन्ध किस-न-किसी प्रकार काम से प्रकट किया जाता रहा है ।

जहाँ हमारे पूर्ववर्ती मनोवेत्ताओं को यह सोचना चाहिए कि शिशु या किशोर को कौन-सी क्रिया सुखद लगती है, यानी उस की अतिरिक्त-शक्ति के व्यय का साधन कौन-सा है ? वहाँ वे यह खोज करते रहे हैं कि शिशु में काम किस रूप में निवास करता है ।

बच्चों की क्रियाओं का मूल्यांकन करने वाले हम बड़ी उम्र के लोग हैं और हमारे सुख के साधनों में काम मुख्य है, इसलिए हम बच्चों को सुखद लगने वाली क्रियाओं में भी `काम` का ही कोई रूप ढूँढने का प्रयत्न करते हैं ।

अंगुष्ट-चोषण के बारे में पीछे कह आये हैं । अँगूठा शिशु के लिए तब तक का खिलौना है, जब तक उसे गुल्ली-डंडा पकड़ना नहीं आता । शैशव के बाद की उम्र के बच्चे के लिए सुखद-क्रिया खेलना और लड़ना-झगड़ना है । इसमें उसकी अतिरिक्त-शक्ति विसर्जित होती है, जो उसके शरीर में अनुकूल-स्थिति लाती है । अत: शक्ति-विसर्जन के नये माध्यम — खेल से परिचित होते ही, शिशु पहले वाला माध्यम — अँगूठा छोड़ देता है । बड़ी उम्र के व्यक्ति को बच्चे का खेल निरुद्देश्य लगता है, लेकिन बच्चा उस तथा-

कथित-निरुद्देश्य काम को उतनी ही एकाग्रता से करता है, जितनी एकाग्रता से वैज्ञानिक परीक्षण करता है या कामी व्यक्ति यौन-अभ्यास करता है ।

बच्चों के खेल के बारे में वयस्कों की जो धारणा है, वह तो हमें ज्ञात है ही, हमारे कामों के बारे में बालक की जो धारणा हो सकती है, उस की कल्पना भी कर लेनी चाहिए ।

गृहणी समझती है कि वह रोटी पका रही है, एक काम कर रही है । बालक के दृष्टिकोण के मुताबिक वह चौंके-चूल्हे से खेल रही है । यदि गृहणी उसे क़ायल कर दे कि वह काम कर रही है, खेल नहीं रही तो कुछ देर के चिन्तन के बाद बालक भी कह देना चाहेगा कि कुर्सी तोड़ना भी एक काम है ।

वास्तव में कौन काम कर रहा है, कौन खेल रहा है, इसका सही फैसला हो ही नहीं सकता । सत्ता बड़ी उम्र के व्यक्तियों के हाथ में है, इसलिए यह एकांगी फैसला कर दिया जाता है कि बच्चा खेलता है और बड़ा काम करता है । वास्तविकता यह है कि दोनों या तो खेल रहे हैं या दोनों ही काम कर रहे हैं और उन दोनों की क्रियाओं का उद्देश्य एक है — वह है उद्देश्यहीन-सक्रियता ।

शिशु-तथा बाल-सुलभ शक्ति-विसर्जन के ऊपर बताए हुए ये सब माध्यम शिशु को थका कर उसे उसी प्रकार की परम-विश्रांति देते हैं जो वयस्कों को मैथुनोपरान्त मिलती है ।

केवल इसी एक मिसाल से शिशु तथा बालक की क्रियाओं को यौन-विच्युति की श्रेणी से निकालना जल्दबाजी की बात है । लीजिए, कीट-पतंगों के जीवन का पर्यैषण कीजिए ।

बचपन में कीट-पतंगों के बारे में पढ़ा करता था । पता लगता था कि मधु-मक्खियों में भी कई वर्ग होते हैं । उनमें कोई

रानी-मक्खी होती है, कोई कर्मकार मक्खी होती है। रानी-मक्खी का काम अंडे देना और कर्मकार मक्खी से सेवा कराना होता है। कर्मकार मक्खी रानी मक्खी के लिए बराबर बोझा ढोती रहती है। यह पढ़ कर कर्मकार पर तरस आता था और रानी के भाग्य से ईर्ष्या होती थी। अब सोचता हूँ कि शायद वे सब अपने-अपने काम में सन्तुष्ट होती होंगी। अपना स्पन्दन जारी रखने के लिए प्रकृति ने उन्हें जिस अवस्था में ठेल दिया होगा, उसी प्रकार ठिलते चले चलना उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य मान लिया होगा।

लेकिन रानी-मक्खी भी तो निष्क्रिय नहीं है। अंडे देकर अपनी शक्ति दूसरे रूप में व्यय कर रही है और कर्मकार उसके अंडे देने योग्य वातावरण बनाने में क्रियाशील है। यदि इन दोनों में से किसी एक को धन्य मानना हम ज़रूरी समझें तो बैंक में जाकर चैक भुनाते समय हमें उस खजांची पर भी दया आएगी जिसके जिम्मे रकम का सिर्फ भुगतान करने का काम है और उस खजांची के भाग्य पर ईर्ष्या होगी जो रुपये ग्रहण करने की खिड़की का अधिष्ठाता बना हुआ है। यदि संयोगवश उस समय हमारे साथ ५-७ वर्ष का शिशु भी हो तो उसे यह जान कर आश्चर्य होगा कि जो खजाँची करेंसी-नोट बाँट रहा है, उसे उसके इस `मूर्खता-पूर्ण-कृत्य` के बदले वेतन भी मिलता है।

जिस प्रकार खजांची का व्यवहार शिशु की समझ में नहीं आता, उस प्रकार बड़ी उम्र के व्यक्ति की समझ में मधु-मक्खियों का व्यवहार नहीं आता। वे मधु-संचय करती हैं, आदमी संचित-मधु का छत्ता उतार कर बाज़ार में बेच आता है। वे फिर से नया छत्ता बनाने में जुट जाती हैं।

लेकिन मानव खुद क्या करता है ? उसका संचित मधु सम्पत्ति, मठ, पैसा, कारोबार या सुनाम के रूप में अर्जित होकर किसके काम आता है ? उसे संतान लेती है या वह संचय पत्नी, दामाद, भाई, देश, जाति या धर्म के काम आता है । खुद वह व्यक्ति, जिसने वह संचय किया, अपने आप पर उसका कितना अंश खर्च करता है ?

इसके उत्तर की कल्पना करके मन को एक धक्का-सा लगता है । क्या हमारी यह सारी क्रियाशीलता वैसे ही निष्प्रयोजन है, जैसे बालक का खेल ! संसार की इसी असारता को देख कर वैराग्य होता है, निवृत्ति-मार्ग को बल मिलता है ।

यदि गहरे पैठ कर देखा जाए तो निवृत्ति भी एक प्रकार की प्रवृत्ति है — क्रियाशीलता को नकारने की क्रिया है । निर्वाण-मार्गी भी निष्क्रिय नहीं होता । यदि वह सांसारिक सुखों से (मनोरंजन के लिए अपनाए गये शक्ति-विसर्जन के माध्यमों से) विमुख होता है तो तपश्चर्या, चिन्तन अथवा योगाभ्यास में अपनी शक्ति व्यय करने लगता है ।

जो व्यक्ति यौन-माध्यम द्वारा सुख प्राप्त करने का आदी है, उसे यह बात अजीब लगेगी कि तपश्चर्या भी सुख का एक साधन है । अजीब लगने का भी कारण है । वह समझता है कि मात्र प्रवृत्ति ही उत्तेजना-जन्य होती है, जब कि वास्तविकता यह है कि निवृत्ति के पीछे भी एक प्रकार की उत्तेजना होती है । उत्तेजना की जितनी किस्में हमने अब तक समझी थीं, वास्तव में वे किस्में उनसे कहीं अधिक हैं । संसार को एकदम छोड़ देना या जंगल की तरफ रुख कर लेना, बिना किसी उग्र-आवेग के सम्भव नहीं है ।

उत्तेजना एक ऐसी अवस्था है जिसमें कम समय मे अधिक

शक्ति का क्षरण होता है। कोई भी असामान्य काम उत्तेजना की अवस्था में सम्भव होता है। उत्तेजित-अवस्था अन्तस्रावी-ग्रंथियों के रस की देन समझी जाती है। जिस मार्ग की ओर अग्रसर होने की मानव की रुचि होती है, उसकी कामना होते ही उन ग्रंथियों का स्रवन अधिक होने लगता है। फलस्वरूप रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है। व्यक्ति असामान्य रूप से अधिक शक्तिशाली बन जाता है। उत्तेजना यदि भय की हो तो वह पलायन में तेज़ी दिखाता है। क्रोध की हो तो सामने वाले को पछाड़ देने में सुख मानता है। यौनावेग की हो तो सामाजिक मर्यादाएं तोड़ कर अपना इष्ट प्राप्त कर लेता है और यदि उत्तेजना वैराग्य की हो तो संसार का त्याग करना उसके लिए सुगम हो जाता है। मानो ग्रंथियों का काम मात्र इतना है कि वे विसर्जन के लिए अधिक शक्ति के द्वार खोल दें। वह शक्ति किस रूप में विसर्जित होती है — यह व्यक्ति के जीवन दर्शन, अभ्यास और रुचि पर निर्भर है।

बच्चों, मक्खियों और वैरागियों के क्षेत्र से निकल कर कला के प्रांगण में आएं तो पता लगता है कि कलाओं की साधना भी उत्तेजना के बिना सम्भव नहीं है।

चित्रकार जब चित्र बनाता है, कवि जब कविता करता है या चिन्तक जब कोई गुत्थी मन-ही-मन सुलझाता है, उस समय वह उत्तेजित अवस्था में होता है। रचना के उस क्षण में छेड़ा जाना, उसे बिल्कुल वैसा ही अखरता है, जैसा किसी अभिसारिका को अभिसार-पथ पर जाते समय टोकना अखरता है। यदि वह कहता है कि मूड न बनने के कारण रचना पूरी न हो सकी। तो उसके कथन का आशय, यह होता है कि वह उत्तेजना के उस शिखर तक अभी नहीं पहुँचा, जहाँ तक पहुँचे बिना सृजन हो नहीं सकता।

प्राचीन तथा आधुनिक मनोविद्-जनों ने कला-साधना को यौन उदात्तीकरण की संज्ञा दी है। उदात्तीकरण भी एक प्रकार की विच्युति है; चूँकि वह विच्युति समाजोपयोगी है इसलिए उसे `विच्युति` न कह कर उसे `उदात्त` नाम दे दिया गया है। `यौन` शब्द लाने की ज़रूरत शायद इसलिए समझी गयी है कि काम को मूल - शक्ति के रूप में माना जाता रहा है। ऐसा मानने वालों को जहां भी तीव्र चेष्टा दिखाई दी और उस चेष्टा में लगे कर्ता को उन्होंने सुख का आभास करता पाया, वहाँ उन्होंने `काम` का निवास मान लिया।

यह भ्रम पिछली शताब्दी के मनोवैज्ञानिकों को ही रहा हो, सो नहीं है। प्राचीन युग के भारतीय-चिन्तकों का वीर्य की ऊर्ध्व-रेती क्रिया से जो आशय था, वह बहुत कुछ वर्तमान यौन-उदात्तीकरण से मिलता-जुलता था। बाद में हठ-योगियों के प्रभाव के कारण उस ऊर्ध्व-क्रिया का लाक्षणिक अर्थ छूट गया और शिश्न द्वारा वीर्य-पान करने का शाब्दिक अर्थ जुड़ गया और इस भ्रम का कारण यह है कि वीर्य को शक्ति के प्रतीक में माना जाता रहा है। शक्ति के उस प्रतीक को उर्ध्व-मार्ग की ओर प्रवाहित करने की क्रिया को ऊर्ध्व रेती क्रिया मान लिया गया।

अनुकूलन-सिद्धान्त के अनुसार ऊर्ध्वरेती-क्रिया का आशय शक्ति का विसर्जन ऊर्ध्व-मार्ग से होना है। यानी चिन्तन, मनन, अध्ययन द्वारा शक्ति का व्यय होना है।

चित्रकार चित्र बनाता है, लेखक चित्रण करता है और चिन्तक चिन्तन करता है, वे जब तक अपनी कल्पना के अनुरूप किसी

निष्कर्ष तक नहीं पहुँच पाते — उत्तेजित अवस्था में होते हैं। उस अवस्था में यदि वे अपना रचना-कार्य स्थगित करें तो उन्हें विश्रांति नहीं मिल सकती। जब वे अपना रचना कार्य पूरा कर लेते हैं तो उनकी उत्तेजना शांत हो जाती है। उनके भीतर से किसी प्रकट द्रव्य का निकास दिखाई नहीं देता, फिर भी उन्हें लगता है, उनके भीतर कुछ अतिरिक्त था, जो तंग कर रहा था, वह निकल गया है। अब वे उस परम-शांति के अधिकारी बन गये हैं जो यौन-कर्मी को सफल-मैथुन के उपरान्त प्राप्त होती है।

अधो-रेता और ऊर्ध्वरेता की चर्चा आगे बढ़ाएँ तो हम देखते हैं कि जिस प्रकार कामाभ्यासी तनाव की स्थिति लाने के लिए उद्दीपन के नित नये उपाय खोजता है, उसी प्रकार उर्ध्व-रेता अपनी ऊर्ध्व-शक्ति के विसर्जन के लिए उत्तरोत्तर जटिल-विषयों को पसन्द करने लगता है।

उन उपायों और जटिलता की व्याख्या करने से पूर्व उत्तेजना की प्रक्रिया को और अधिक समझना होगा। जो जिस मात्रा की उत्तेजना धारण करने का आदी है, उतनी मात्रा उसके लिए सार्वकालिक-उद्दीपक नहीं बन सकती। अधोरेता या ऊर्ध्वरेता को वर्तमान काल में जितनी शक्ति विसर्जित करके सुख मिला है, भविष्य में उतनी शक्ति व्यय करके उसे उतना सुख शायद ही मिल सके। जो स्नायु जितने तनाव के आदी बन जाते हैं, एक अर्से तक उतना तने रहना उनके लिए सामान्य-अवस्था बन जाती है। सामान्य तो सामान्य है, सुख असामान्यता में है। अगली बार पूर्व जैसा तनाव सुख पाने के लिए, उत्तेजना-प्रेमी को अधिक तनाव की आवश्यकता पड़ती है। जैसे — अफीमची को

नशे की स्थिति बनाए रखने के लिए अफ़ीम की गोली को उत्तरोत्तर बड़ा बनाना पड़ता है, वैसे ही किसी भी प्रकार की उत्तेजना का आनन्द लेने के लिए, उसके उद्दीपक-कारणों का विस्तार करना पड़ता है। कामाभ्यासी को भोग-आसनों में फेर-बदल करना पड़ता है। परीकथाओं के पाठक को घात-प्रतिघातभरे उपन्यासों तक आना पड़ता है। चित्र-प्रेमी को मूर्त की अपेक्षा अमूर्त चित्र-कारी सरस लगती है। व्याख्याएं पढ़ने वालों को सूत्रों में आनन्द आता है। अमूर्त-कला-प्रेमी और सूत्र-प्रेमी को आनंद इसलिए आता है कि उसे अस्पष्ट का अर्थ अपनी कल्पना के बल पर स्पष्ट करना होता है। अपनी सोच-विचार की क्षमता से कम जटिल विषय में उसे रस नहीं आता। रस न आने का कारण यह होता है, कि उर्ध्वमार्ग से जितनी शक्ति व्यय करने का वह आदी होता है उतनी शक्ति जटिल को समझने में ही व्यय हो सकती है। उस क्षमता से कम जटिल विषय के समझते समय उसे लगता है कि स्नायुओं की प्रत्यंचा पूरी तरह नहीं चढ़ी।

मनोरंजन के जितने भी साधन हैं, वे सब ऊर्जा-विसर्जन के माध्यम ही हैं। एक साधन-सम्पन्न व्यक्ति को स्वयं नाव खेने से, शिकार के लिए जंगलों में भटकने से और बर्फीले पहाड़ों पर चढ़ने से जो सुख मिलता है, वह सुख विसर्जन-सुख है। मज़े की बात यह है कि इस प्रकार के कष्टमय सुख के इच्छुक वही लोग हैं, जिनका सामान्य जीवन सुख-सुविधा से पूर्ण होता है। जिनके व्यक्ति-गत काम उनके अधीनस्थों के सुपुर्द होते हैं। पेशेवर नाविकों, जंगल-जंगल भटकने वाले लकड़हारों और पहाड़ी-कुलियों को उपर्युक्त अभि-यानों में रस लेते कभी नहीं देखा जाता। कष्ट में रस तो उसे ही मिलता है जो हद से ज्यादा आराम करके थका हो। जो काम करते-करते थका हो उसे तो आराम में ही आनन्द मिलता है।

उसका शक्ति-अनुकूलन विसर्जन में निहित है, इसका अनुकूलन अर्जन में छिपा है।

जुए या ताश के खेल में हर खिलाड़ी अपनी ही जीत चाहता है। अगर किसी सिद्धहस्त-खिलाड़ी के सामने एक अनाड़ी को बैठा दिया जाए तो वह सिद्धहस्त-खिलाड़ी सहज ही में जीत तो जाएगा परन्तु इस के बावजूद वह बोर होने लगेगा। हार की आशंका होने के साथ तिल-तिल करके जीतने में उसे जो सुख मिलता है, वह संघर्ष सुख है। संघर्ष में उसकी अतिरिक्त-शक्ति का जो हनन होता है, उस हनन-विधि का अभ्यस्त बन कर वह जुए को सुख के साधन के रूप में मानने लगता है।

विसर्जन के जिस मार्ग का जो व्यक्ति अभ्यस्त बन जाता है, वह समझता है कि जीवन का वास्तविक आनन्द उसी मार्ग पर चलने में है, अन्य-मार्ग-गामी अपना जीवन वृथा गँवा रहा है।

जिस प्रकार पुरुष-यौन-सुख नारी की अनुभूति सीमा में नहीं आ सकता या नारी यौन-सुख का रसास्वादन पुरुष नहीं कर सकता, उस प्रकार कामी को ब्रह्मानन्द का और योगी को यौनानन्द का ठीक-ठीक आभास नहीं हो पाता है। ये दोनों प्रकार के अभ्यासी अपने-अपने शक्ति-विसर्जन के माध्यम को श्रेष्ठ समझते हैं तथा दूसरों का जीवन निस्सार कह कर अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करते हैं। इहलौकिक और पारलौकिक सुख के ये दोनों हामी मिल कर उस लालची समझे जाने वाले बनिये के दुर्भाग्य पर तरस खा रहे हैं, जो अपने निद्रा-काल से समय बचा कर उस समय को अर्थोपार्जन में लगा लेता है। जानता वह भी है कि सिकन्दर-महान् की तरह एक दिन उसे भी खाली हाथ इस दुनिया से चले जाना है। फिर भी वह पाप-पुण्य का विचार किये बिना अर्थो-

पार्जन में जुटा है, यह जानते हुए कि कमाया हुआ यह सारा धन उसके अपने काम नहीं आएगा। उसका यह चार दिन के लिए मिला हुआ नर-चोला किस काम आएगा — यह चिन्ता उपर्युक्त दोनों भिन्न-मार्ग-गामियों को खाए जाती है। उन दोनों की दया का पात्र बने हुए इस तीसरे आदमी को अपने पर तरस खाने वाले उन दोनों व्यक्तियों की बुद्धि पर तरस आता है। वह इह लोकवादी के भविष्य के और परलोकवादी के वर्तमान के बारे में अपनी चिन्ता व्यक्त करना चाहता है। अपने-अपने जीवन-दर्शन के अनुसार ये तीनों सच्चे हैं। अपनी मन पसंद शक्ति-विसर्जन-विधि के अभ्यस्त होकर वे एक-दूसरे के सुख को झुठलाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

मुसीवत उसके लिए है जिसका जीवन-दर्शन उसकी अपनी समझ में नहीं आता, पढ़ने-लिखने को जिसका जी नहीं चाहता, लेकिन उसे आहार पूरा मिलता है। कोई जिम्मेवारी उस पर डाली नहीं गयी। उसका अतिरिक्त-शक्ति-विसर्जन कहाँ हो? आशय युवा-छात्र-वर्ग से है। उसकी अतिरिक्त शक्ति जब सघनता की एक विशेष सीमा तक पहुँच जाती है तो किसी विस्फोटक-क्रिया के रूप में प्रकट हो जाती है। यदि वह छात्र गुलाम-देश का नागरिक है तो शासक की गाड़ी बम से उड़ा देना उसका इष्ट हो सकता है। यदि धर्म पर आपत्ति आयी हो तो अन्य धर्मावलम्बियों की गर्दन उड़ाना उसका ध्येय बन सकता है। इस प्रकार वह क्रांतिकारी या धर्म-रक्षक की पदवी सहज में पा सकता है। यदि उसके सामने इस प्रकार के ध्येय न हों और समाज उसको शक्ति-विसर्जन के लिए उसके पसन्द की कोई अनुकूल-विधि न सुझा सके तो वही वर्ग विषम-लिंगियों को छेड़ना अपना ध्येय बना सकता है या ट्रामों, बसों का किराया बढ़ने के नाम पर वह बसें और पुल

नष्ट करने में अपनी शक्ति का विक्षेप कर सकता है ।

शक्ति-विसर्जन के लिए उपयुक्त माध्यम के अभाव में जितनी परेशानी आज के युवा-छात्र-वर्ग को हो रही है, उससे कहीं अधिक परेशानी आज से पाँच शताब्दी पूर्व के जिम्मेवार व्यक्ति को होती थी । आज के सामान्य जीवन की जो द्रुतगति है और शिक्षा, चिन्तन, व्यायाम, मनोरंजन, षड्यंत्र तथा साहसिक अभियानों के रूप में शक्ति-विसर्जन के जितने स्रोत आज सुलभ हुए हैं, उतने वीर-गाथाकाल में नहीं थे । मान-पूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए हर व्यक्ति को स्वेच्छा से आज जितना परिश्रम करना पड़ता है, उस समय के गुलामों को शायद उतना न करना पड़ता होगा । स्वाभाविक था कि उस युग का अभिजात-वर्ग आन-बान और शान के नाम पर अपनी शक्ति खर्च करता । बात-बात पर तलवार म्यान से निकाल लेना और मूँछ के बाल की रक्षा के लिए मूँछ सहित सिर कुर्बान करना, इस युग के व्यक्तियों को अजीब लगता है, लेकिन उस युग में इस प्रकार के 'वीरत्व-पूर्ण' कारनामें जीवन में गति लाने के उपयुक्त माध्यम थे । यह उनके शरीर-धर्म की आवश्यकता थी ।

अब शारीरिक-द्वन्द्वों की अपेक्षा मानसिक-द्वन्द्वों का बोलबाला है । अब तलवार से नीचा नहीं दिखाया जाता, तरकीबों से पटकनी दी जाती है । जीत के लिए बल की नहीं, तकनीक की जरूरत होती है । अतः इस युग में मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिए शस्त्र-विद्या में पारंगत होने की ज़रूरत नहीं रही । छद्मविद्या को अपना जीवन-दर्शन बना लेना काफी है । हम मध्यकाल के उन वीरों के कारनामों को मूर्खता-पूर्ण कह सकते हैं, लेकिन हम भूलते हैं कि आनुवंशिकता में हमें उस शताब्दी के लोगों के संस्कार भी मिले हैं । क्रियाशील रहने के लिए विषम वाता-

वरण रचने की थोड़ी वहुत प्रवृत्ति हम सव में है। यह प्रवृत्ति अव उतनी तेज़ नहीं रही, लेकिन विल्कुल समाप्त भी नहीं हुई। उस प्रवृत्ति की तुष्टि के लिए खेल, प्रतियोगिता और जुए के रूप में, कुछ समय के लिए हम कुछ शत्रु कल्पित कर लेते हैं। एक नियत समय तक उनसे शत्रुता निभा कर, जव अपनी अतिरिक्त-शक्ति विसर्जित कर चुकते हैं तो फिर उनसे हाथ मिला लेते हैं।

संघर्ष-रत रहने के लिए मात्र शत्रुता रास्ता नहीं है। किसी को मित्र, वहन, भाई, पत्नी या संतान वना कर उसकी सुख-सुविधा की व्यवस्था करने के वहाने क्रियाशीलता जारी रखी जा सकती है।

मानव सृष्टि का जटिल जीव है, संतान का पालन-पोषण करने के लिए उसके सामने कई सामाजिक, आर्थिक, इहलौकिक, पारलौकिक ध्येय हो सकते हैं। वे सारे ध्येय चिड़िया के सामने नहीं हैं, जिनके लोभ में वह संतान को पाले, लेकिन चिड़िया को स्पन्दित रहने के लिए कुछ-न-कुछ करना है, कुछ करने का ही एक रूप है, संतान के लिए चुग्गा लाना। कुछ करने का आधार या प्रेरणा पाने के लिए मानव भी संतान की कामना करता है, क्योंकि संतान के लिए वह जितना श्रम करता है उस के वदले में उसे उतना ही वल्कि उस से भी अधिक प्यार अथवा आदर प्राप्त होता है। उस श्रम के रूप में किया गया विसर्जन एक सुख है, प्यार या आदर का पात्र वनना दूसरा सुख है, अत: वह दुहरा-सुख जीव को संतान-पालन का अभ्यस्त वना देता है। यदि उसी प्रकार का प्यार आदर या श्रद्धा; देश, धर्म, जाति, मित्र, पड़ोसी या सम्वन्धी से मिलने की आशा हो तो व्यक्ति इनमें से किसी के लिए भी सक्रिय हो सकता है।

यदि व्यक्ति के सक्रिय रहने का कोई आधार न हो तो वह विषम-स्थिति में फँस जाता है। या तो वह आत्म-हत्या करके मानो एक ही झटके में अपने सारे शरीराणुओं को स्पन्दन-हीन कर देना चाहता है, या यदि ऐसा कर सकना उसके बस में न हों, तो वह निवृत्ति का एक विध्वंस-कारी मार्ग अपना लेता है। उसकी शक्ति समाज-विरोधी कामों में व्यय होने लगती है और विरोध के आनन्द का एक बार आस्वादन कर लेने के बाद वह दूसरा मार्ग नहीं पकड़ सकता। ऐसे आनन्द की यदि वह वृद्धि चाहे, तो उसे उत्तरोत्तर अपने शत्रुओं का दायरा बढ़ाना पड़ता है।

जैसाकि मनोविज्ञान के पाठक जानते हैं कि उत्तेजना का कारण प्रणाली-विहीन ग्रंथियाँ हैं। एक अर्से तक उन ग्रंथियों का विशेष मात्रा में स्रवित्त होते रहना ग्रथियों की आदत बन जाता है। जव तक किसी व्यक्ति के पास सक्रिय रहने के लिए कोई जीवन-दर्शन, कोई प्रोग्राम होता है, तब तक उसे कोई परेशानी नहीं होती। परेशानी उस समय होती है जब ध्येय पूरा हो जाता है।

मिसाल के तौर पर एक ऐसे व्यक्ति का केस लेते हैं, जिसके संघर्ष-रत रहने का उद्देश्य अपनी प्रेयसी पाना था। वह प्रेयसी उसे मिल गयी। संघर्षरत रहने का व्यक्ति का उद्देश्य तो पूरा हो गया, किन्तु उन ग्रंथियों का क्या हो जो अर्से से एक विशेष मात्रा में रस छोड़ने की आदी हो चुकी थी ? उनका अभ्यास एकदम नहीं टूट सकता। उनके रस द्वारा प्राप्त शक्ति, जो इष्ट-प्राप्ति के काल में मानव को अत्यधिक सक्रिय बनाती थी, अव वह संघर्ष की नयी राहें खोजती हैं। प्रेयसी से प्रेमी की खटपट होने लगती है। उस खटपट में प्रेमी अपनी अतिरिक्त-शक्ति का विसर्जन करने लगता है। वह अधिक क्रोधी या अधिक कामी वन जाता है।

यदि स्थिति दूसरी होती है, यानी प्रेयसी प्राप्त नहीं होतीं, वह मर जाती है या बेवफ़ा साबित होती है तो ध्येय ही समाप्त हो जाता है। उस दशा में व्यक्ति अजीब स्थिति में फँस जाता है। यदि वह रचनात्मक-प्रकृति वाला है, तो वह किसी दूसरे रचनात्मक काम में अपनी शक्ति व्यय करने लगता है। मसलन, प्रेयसी-प्रेमी के बदले विश्व-धर्म या जाति-प्रेमी बन जाता है। पुरानी परिभाषा के अनुसार उसका यह ध्येय बदलना यौन-विस्थापन है किन्तु नयी मान्यता के अनुसार हम कह सकते हैं कि उसका शक्ति-अनुकूलन का माध्यम बदल गया है। यदि वह व्यक्ति विध्वंसात्मक प्रकृति का है तो अपनी घृणा का विस्तार करके वह संसार की हर नारी को घृणा का पात्र बना लेता है और सदैव झुँझुलाहट की स्थिति में रहने लगता है। तीसरी, चौथी और पाँचवी स्थिति यह भी हो सकती है कि उन ग्रंथियों के रस का प्रभाव नष्ट करने के लिए वह किसी मादक-द्रव्य का प्रयोग करने लगे। मादक-द्रव्य विष ही है। उस विष का प्रभाव नष्ट करने के लिए भीतरी संस्थान को उसका निरोधक-विष तैयार करना पड़ता है। वाह्य-विष से आन्तरिक-विष का संघर्ष होने लगता है। इस प्रकार संघर्ष का क्षेत्र वाह्य-जगत् से बदल कर आंतर-जगत् हो जाता है। मादक-विष और निरोधक-विष, दोनों का एक-दूसरे के आश्रित हो जाना ही आदत है। उस दशा में यदि किसी समय मादक-द्रव्य का प्रयोग बाहर से बंद हो जाए तो निरोधक-विष अपने शमन के लिए मादक-द्रव्य की माँग करता है। वह माँग आदी की बेचैनी के रूप में प्रकट होती है।

अब अंत में प्रमुख समझी जाने वाली यौन-विच्युति `कामचौर्य` की चर्चा करनी आवश्यक है। समझा जाता है कि चोर को चोरी करने से जो तुष्टि प्राप्त होती है, वह काम-सुख

है । यह बात इतनी अधिक बार प्रतिध्वनित हो चुकी है कि इस धारणा से अलग कुछ सुना जाना शायद नागवार समझा जाए । फिर भी यह कहना होगा कि चौर्य-वृत्ति का कामोत्तेजना से कतई सम्बन्ध नहीं । बल्कि उसका सम्बन्ध,भय की उत्तेजना से है ।

कल्पना कीजिए,एक व्यक्ति जंगल में जा रहा है । अचानक ही वह एक शेर के सामने पड़ जाता है । शेर से मुकाबला करने या उससे पलायन करने के लिए उसे सामान्य से अधिक शक्ति चाहिए । वह शक्ति उसे ग्रंथि-रस द्वारा प्राप्त हो जाती है । उस परिस्थिति से जब वह जीवित बच जाता है,तो उसे लगता है कि उसकी जान में जान आ गयी । वास्तव में संचित-शक्ति का एक बड़ा भाग वह घबराहट में खो चुका था । खोने के उस क्षण में उसे लगा कि उसकी जान ही निकल गयी और जब वह सुरक्षित स्थिति में पहुँच गया तो उसे महसूस हुआ जैसे उसका बोझ उतर गया, वह हल्का हो गया । विसर्जित-शक्ति का आभास उसे शक्ति के स्खलन के बाद सुरक्षित-स्थिति में आने पर हुआ । इससे एक नयी-सी शांति उसे महसूस हुई । यदि किसी कारणवश उसे वह शांति की अवस्था इतनी प्रिय लगे कि वह वैसे हल्केपन की कामना करने लगे,तो क्या वह वैसी स्थिति फिर से लाना चाहेगा ?

नहीं, वह पूर्ण रूप से वैसी पुनरावृत्ति नहीं चाहेगा । भय की स्वेच्छित-पुनरावृत्ति के समय वह कुछ परिवर्तन भी कर लेना ज़रूरी समझेगा । यदि वह शेर का सामना करना चाहेगा तो वह मित्रों और शस्त्रों से सुसज्जित होकर शिकार खेलने चल देगा । यदि इस प्रकार की पुनरावृत्ति के लिए उसके पास पर्याप्त साधन न हों तो वह भयानक पुस्तकें पढ़ने लगेगा । भयानक फिल्में देखेगा, लोमहर्षक प्रतियोगिताओं में रस लेगा अथवा साहसिक अभियानों

में आनन्द पाएगा ।

'साहसिक-अभियान' भय नामक उत्तेजना की पुनरावृत्ति के अलावा और क्या है ? यदि भय की इच्छा के साथ लोभ की कुछ मात्रा का समावेश भी हो जाए तो उसका धारण करने वाला व्यक्ति ,बड़ी आसानी से चोरी का आदी हो सकता है। चोरी सबसे सरल साहसिक-अभियान है। यह भय की स्वेच्छामूलक अवस्था है, जिस तक पहुँचने के लिए अधिक साधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

चोरी के आदी को बचपन से ही एक विशेष प्रकार की आशंका से व्याप्त रहने में सुखानुभूति होने लगती है। भय की उस अवस्था से जब चाहे व्याप्त होने के लिए अभ्यस्त, कभी नौलखा हार उड़ा लेता है, कभी चम्मच चुरा लेता है। कहीं कोई देख न ले, कहीं पकड़ा न जाऊँ — ये आशंकाएं मानों उसे उत्तेजना-शिखर तक पहुँचाने वाली प्राक्क्रीड़ाएं हैं। जब ऐसी आशंकाएं निर्मूल हो जाती हैं, वह कुछ चुरा लेने में सफल हो जाता है,तो उत्तेजना शांत हो जाती है। उसके बाद विसर्जित-शक्ति का आभास शरीर के हल्केपन के रूप में उसे होता है। उसे लगता है जैसे उसे परम-शांति प्राप्त हो गयी हो।वैसी ही शांति वह जब चाहे, कुछ चुरा कर पा सकता है। वह कौन-सी वस्तु चुराता है, कितने व्यक्तियों की मौजूदगी में चुराता है — यह उसके उत्तेजन-क्षमता के स्तर पर निर्भर है।

अब तक चोरी को काम-विच्युति के रूप माना जाने का जो भ्रम रहा, उसका कारण यह था कि इस मत के पोषकों ने काम के अतिरिक्त और किसी सुख-साधन की कल्पना न की थी अथवा यह कि यौन और भय की मिली-जुली उत्तेजना को अलग-अलग प्रकट करने के लिए उन्हें शब्द न मिले थे।

`यौन-सुख` तथा `शक्ति-विसर्जन-सुख` को एक-दूसरे के पर्याय समझ लेने से कुछ नये भ्रम पैदा हो सकते हैं। उनका निवारण किया जाना ज़रूरी है।

उदाहरणत: कोई व्यक्ति चिन्तन द्वारा अपनी शक्ति दारित करता है या शक्ति-विसर्जन का मार्ग तपश्चर्या बनाता है या भय की उत्तेजना द्वारा अपनी शक्ति संतुलित करता है,तो अनुकूलन-सिद्धांत की मान्यता के अनुसार यौन-क्षेत्र में उसे नपुंसक बन जाना चाहिए। लेकिन ऐसा होता नहीं है। विश्व में ऐसे व्यक्ति हैं जो एक साथ परिश्रमी और चिन्तक हैं या वे कामी होने के साथ चोर भी हैं। वीरता और तप-स्या के दोनों भाव एक ही व्यक्तित्व में कभी-कभी देखे जाते हैं। संक्षेप में यों कहिए कि अतिरिक्त-शक्ति-विसर्जन के वे चाहे किसी भी माध्यम के पारंगत हों — उसके साथ वे थोड़ा-बहुत यौन-सुख की कामना ज़रूर करते हैं।

यहां हमें आनुवंशिक संस्कारों की महत्ता को मानना होगा। हमारे पूर्वजों द्वारा शक्ति विसर्जन के लिए अपनाई गयी सभी क्रियाएं, जिन्हें प्रवृत्तियाँ कहा जाता है, आदत के रूप में हममें विद्यमान हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही आदतें प्रवृत्तियाँ हैं। वे सब प्रवृत्तियाँ हर मानव में सुषुप्तावस्था में होती हैं। वातावरण में सभी प्रवृत्तियों को प्रेरित करने वाली अनन्त प्रेरणाएं हैं। हमारी प्रथम-चेतना के अवसर पर उनमें से जो प्रेरणा प्रबल पड़ जाती है, उससे सम्बन्धित-प्रवृत्ति हमारी मुख्य-प्रवृत्ति बन जाती है। अभ्यास द्वारा उसका विकास करके हम उसके अभ्यस्त हो जाते हैं। मसलन जो कामाभ्यासी है, वह उस हद तक चित्रकार व चिन्तक भी होता है कि वह उल्टा-सीधा चित्र अंकित कर ले या अपने भविष्य के बारे में थोड़ा-बहुत चिन्तन

कर सके। वैसे ही, जो चिन्तनाभ्यस्त है, वह थोड़ा-बहुत यौन-सुख पाने में समर्थ होता है।

कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो एक समय में कई मोर्चों पर लड़ने में सिद्धहस्त होते हैं। दूसरी ओर वे व्यक्ति भी हैं, जो किसी भी मोर्चे पर कुछ नहीं कर सकते। हर व्यक्ति का अपना अर्जन-विसर्जन-संस्थान है। कोई व्यक्ति कितना अर्जन करता है, उस अर्जन में से कितना किसी अस्पष्ट-पैतृक-रोग से मुकाबिला करने में वह धारित करता है, यह चिकित्सा विज्ञान का विषय है। यहाँ इतना ही कह कर अपनी बात समाप्त करते हैं कि संस्कार के रूप में प्राप्त सभी प्रवृत्तियों की खानापुरी हममें से हरेक कम-व-बेश किसी-न-किसी रूप में करता है।

....

प्रकरण — ३

यौन-प्रवृत्ति और उस पर सामाजिक-प्रतिबन्ध

— यौनावेग प्रबल क्यों ?

— यौन-प्रवृत्ति पर ही अधिक प्रतिबन्ध क्यों ?

— वर्जन-हीन-समाज की परिकल्पना ।

— वर्जन-हीन-समाज का आदर्श

यौनावेग प्रबल क्यों ?

जो प्रवृत्तियाँ मानव को वंशानुक्रम से संस्कार रूप में प्राप्त हुई हैं, यौन-प्रवृत्ति का उन सब में अपना अलग महत्त्व है। उस महत्त्व को साहित्य-शास्त्र ने `रसराज` कहकर माना है और धर्म-ग्रंथों ने `नरक का द्वार` कहकर मानो नकारात्मक स्वर में इस प्रवृत्ति के महत्त्व को स्वीकार किया है।

यों तो आत्म-रक्षिका-प्रवृत्ति जीव की मूलभूत प्रवृत्ति मानी जाती है, किंतु यौन-प्रवृत्ति से सम्बन्धित आवेगों में जो तीव्रता दिखाई देती है, वह आत्म-रक्षिका प्रवृत्ति से सम्बन्धित भूख-प्यास आदि आवेगों में भी नहीं दीख पड़ती। यह इसी तीव्र-अनुभूति का प्रताप है कि जीवाणु-विज्ञानी भी रमण-काल में अपना विज्ञान भुला देता है और यौन-सहकर्मी के मुख से मुख मिला कर साँसो-द्वारा जीवाणुओं का अदल बदल करने में वह कोई हर्ज नहीं समझता। उच्चवर्ण का दम्भी व्यक्ति तीव्र यौनावेग के क्षणों में निम्न वर्ण, निम्न जाति या निम्न वर्ग के यौन-पूरक को परम-प्रिय समझ लेने के लिए तत्पर हो जाता है और शुद्धाशुद्ध का विचार रखने वाला धर्मशास्त्र-ज्ञाता उन क्षणों के लिए `नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणां`[1] जैसे श्लोकांशों को अपना दर्शन बना लेता है। और तो और, संयमित जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देनेवाले मैथुन-निन्दक-धर्मोपदेशक को भी

---

१. स्त्रियों का मुख सदा पवित्र होता है। — मनुस्मृति पृ. १३०

अपना उपदेश ग्राह्य बनाने के लिए अप्सराओं या हूरों से भरे एक स्वर्ग की कल्पना प्रचारित करनी पड़ती है। उसे अपने अनुयायी से यह वादा करना पड़ता है कि वह इस लोक के संयमी जीवन के बदले में उसे परलोक में असंयमित जीवन व्यतीत करने का अवसर दिलाएगा।

यह सब कुछ देखते हुए यह अचम्भा होता है कि शरीर की यह गौण आवश्यकता अन्य मुख्य आवश्यकताओं से अधिक अनिवार्य कैसे बन गयी? इसमें अचम्भे की कुछ बात नहीं। जो भी कर्म शरीर-धर्म के अनुकूल होते हैं, उनके क्रियान्वित होने में सुख की अनुभूति होती है। जब भूख लगी हो तो भोजन करना एक सुखद क्रिया है। मल-विसर्जन का सुख दूसरा है। सर्दी लगने पर कपड़े ओढ़ने का सुख तीसरे प्रकार का है। प्यास के क्षण जलपान का आनन्द ही कुछ और है और यौनोत्तेजना के क्षणों में घर्षण-क्रिया द्वारा शक्ति-विसर्जन करने का सुख अन्य सभी सुखों से भिन्न है।

शरीर में अनुकूलन बनाये रखने के लिए प्रवृत्त करनेवाली ये सारी प्रवृत्तियाँ समान महत्त्वपूर्ण हैं। यौन-प्रवृत्ति, अधिक महत्त्वपूर्ण दिखाई देती है, उसका कारण यह है कि सामाजिक-वातावरण में इस प्रवृत्ति से सम्बंधित प्रेरणाएँ अनन्त हैं। बाजीकरण दवाएं, श्रृंगार रस के नाटक, उत्तेजक फिल्में, श्रृंगार-प्रसाधन, उत्तेजक पुस्तकें, उद्दीपक दृश्य, नर-मादा की शारीरिक-विषमता को अधिक उभारने वाले आवरण और उन आवरणों को धारण करके आकर्षण की होड़ में एक दूसरे से बाज़ी ले जानेवाले असंख्य चेहरे। ये सब प्रेरक-साधन व्यक्ति को उद्दीप्त करने के लिए जिम्मेदार हैं। दूसरी ओर उद्दीपन को शान्त करने वाले

साधनों पर सामाजिक वर्जनाएँ हैं। मसलन उद्दीपन के कारण उन असंख्य इकाईयों में से एक से या कुछेक से ही यौन सम्बन्ध रखने की सामाजिक अनुमति मिलती है। वह अनुमति प्राप्त करने के लिए अर्थ, वय, वर्ग तथा सामाजिक-स्थिति-सम्बन्धी कुछ शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं। वह आज्ञा प्राप्त कर लेने के उपरान्त भी यौन-सम्पर्क हर समय, हर स्थान पर नहीं किया जा सकता। एक ओर प्रेरकों की अधिकता, दूसरी ओर तृप्ति-साधनों पर रुकावटें, यह विषम स्थिति काम के स्वाभाविक आवेग को अस्वाभाविक बना देती है। इस प्रकार के विषम वातावरण में रहने वाले मानव की काया उस बाँध (डैम) जैसी बन जाती है जिसमें जल का भंडार भरने की राहें अधिक हों, किन्तु उस जल के निकास के लिए मार्ग अत्यन्त संकुचित रखा गया हो। कुण्ठित पानी जैसे वेग से छुटकारा पाता है, वैसा ही वेग वर्जनाओं से भरे समाज में रहनेवाले मानव के यौन-आचरण में दिखाई देता है।

कहा जा सकता है कि मात्र यौन-प्रवृत्ति को जगानेवाली प्रेरणाएं ही समाज में नहीं हैं। क्षुधा, पिपासा आदि अन्य आवेगों को प्रबल बनाने वाली प्रेरणाएं भी समाज में हैं। हलवाई, बेकर, फल, सब्जी, गोश्त आदि के विक्रेता अपनी अपनी क्रेय वस्तुओं का प्रदर्शन प्रभावकारी ढंग से करके भूख के सामान्य आवेग को असामान्य बनाते हैं। फिर भी वह आवेग कामावेग जितना प्रबल क्यों नहीं बनता ?

उसका एक कारण यह है कि ऊपर कहे गये आहार-विक्रेताओं में अपनी वस्तुएं सजाने की उतनी तन्मयता नहीं होती, जितनी तन्मयता पुरुष या स्त्री को अपने-आप को प्राप्तव्य बनाने की होती है। दूसरा यह कि खाद्य पदार्थों के ग्रहण-सुख के सम्बन्ध में सामाजिक निषेध भी इतने कड़े नहीं होते जितने

यौन-सुख प्राप्त करने के बारे में होते हैं। इसलिए अन्य प्रवृत्तिया इतनी अस्वाभाविक नहीं बन पाती जितनी यौन-प्रवृत्ति बन जाती हैं। यदि समाज क्षुधा-प्रवृत्ति के शमन पर भी उतने ही प्रतिबन्ध लगाये, जितने वह यौन-प्रवृत्ति के शमन पर लगाता है, तो भूख-नामी स्वाभाविक प्रवृत्ति का रूप बदल जायेगा।

कल्पना कीजिए — एक व्यक्ति को भूख लगने पर उसके सामने भोजन परोस दिया जाए। जब वह खाने के लिए हाथ बढ़ाये तो यह कहकर उसके सामने से थाली उठा ली जाए "नहीं, यह तुम्हारे लिये नहीं है।" तो उस व्यक्ति के अन्तरतम में भूख के आवेग के अतिरिक्त एक और भाव जागेगा, जिसे तृष्णा का भाव समझा जा सकता है। थोड़ी देर बाद उससे बढ़िया आहार उसके सामने रखा जाए, साथ ही उसे खाने का भी निषेध कर दिया जाए, तो तृष्णा के साथ क्रोध अथवा निराशा का भाव भी जागृत हो जायेगा। तीसरी, चौथी, पाँचवी, छठी, सातवीं, : सौवीं और हजारवीं बार यदि इसी प्रकार की प्रेरित और वर्जित करने की क्रिया दुहराई जाती रहे तो भोजन के प्रति, निराश मनोवृत्ति के व्यक्ति का विराग भाव उत्पन्न हो चुका होगा और प्रत्याशी व्यक्ति की क्षुधानुभूति तृष्णा और क्रोध की सीढ़ियाँ लाँघकर एक नये प्रकार की हिंसक-प्रवृत्ति को जन्म दे चुकी होगी। उस समय उसके लिए आहार-भक्षण करना गौण क्रिया बन जाएगी, उसे प्राप्त करने की चेष्टा को मुख्यता प्राप्त हो जायेगी। उस स्थिति में सुखानुभूति भक्षण में नहीं, भक्ष्य को प्राप्त करने की चेष्टा में होने लगेगी।

यह तो हुआ तीव्र आवेग के प्रत्याशी व्यक्ति का मानसिक चित्रण। सामान्य आवेग वाले व्यक्ति को भी यदि इस

प्रकार की स्थिति से गुजरना पड़े तो वस्तु-प्राप्ति की चेष्टाओं में वह हिंसक रूप शायद न दिखा पाएगा, लेकिन उसकी चेष्टाएं सामान्य से कुछ अलग अवश्य हो जाएँगी । मिसाल के तौर पर एक सामान्य से व्यक्ति को तीव्र भूख के क्षणों में भक्ष्य वस्तु दिखाई दे जाए किन्तु उसे पाने या खरीदने की उसमें सामर्थ्य न हो, तो उस अप्राप्य को प्राप्त करने की अभिलाषा उस में बस जाती है । उसके जीवन की गति में प्रकटत: कोई अन्तर दिखाई नहीं देता, किन्तु भीतर ही भीतर उस अतृप्त-अभिलाषा का पोषण होता रहता है । उस अभिलाषा के अस्तित्व का ज्ञान उस समय होता है, जब वह ऐसे क्षण पुन: उसी अप्राप्य वस्तु को देखता है, जब उस का पेट तो भरा हुआ होता है किन्तु उस वस्तु को प्राप्त करने में वह समर्थ होता है । उस क्षण भरा पेट होने के बावजूद, वह उस वस्तु को प्राप्त कर लेता है। उस समय वह भक्षण सुख का उपभोग नहीं कर सकता । प्राप्त करने का सुख उस समय मुख्य होता है ।

क्षुधानुभूति की इस विस्तृत चर्चा से आशय-मात्र यह प्रकट करना है कि आदि-शक्ति की ओर से जीव को सभी आवेग सामान्य रूप में मिले हैं । सामान्य को असामान्य बनानेवाला वंचना नामी भाव है । क्षुधा आदि आवेगों की शांति के लिए सामाजिक-वर्जनाएं अपेक्षाकृत कम हैं, इसलिए वह आवेग हमें सामान्य-सा लगता है । यौनोवेग पर वर्जनाएं अपेक्षाकृत अधिक हैं, इसलिए वह हमें सामान्य से तीव्र लगता है। मात्र परिस्थितियों के कारण यौनावेग प्रबल बनता है, यदि उन जैसी परिस्थितियों से क्षुधानुभूति को भी गुजरना पड़े तो वह अनुभूति भी स्वाभाविक से अस्वाभाविक बन जाती है ।

यौन-प्रवृत्ति सम्बन्धी जिन निषेधों का जिक्र ऊपर हुआ है, वे निषेध कम या अधिक मात्रा में प्रत्येक व्यक्ति के

समक्ष आते हैं । जिस तानाशाह किस्म के अतुल-साधनपति को देखकर यह भ्रम होता है कि उसके लिए वर्जनाएं नहीं हैं, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर वह भ्रम भी मिट जाता है । उसके लिए जिस अनुपात में वर्जनाएं कम हैं, उसी अनुपात में उसकी हिंसक प्रवृत्ति बढ़ी-चढ़ी रहती है । इसलिए उसे भी वंचना-दुख का अहसास लगभग उतना ही रहता है, जितना एक साधन-हीन को होता रहता है ।

मानव से निम्नतर जीवों में भी यौन-प्रवृत्ति होती है, किन्तु उतनी तीव्र नहीं, जितनी तीव्र मानव में होती है । पशु नियत ऋतु-काल में ही गर्माते हैं, अन्य ऋतुओं में वे शांत और संतुष्ट ही देखे जाते हैं । काम-तृप्ति उनके शारीरिक-अनुकूलन के लिए एक सामान्य-आवश्यकता है । लेकिन मानव ने उस आवश्यकता को चस्का बना लिया है । दर्जियों व सौंदर्य-प्रसाधन के उत्पादकों ने, मानव की द्रव्य-गुण-सम्बन्धी अभूतपूर्व जानकारी ने उस आवश्यकता को ऋतु-विशेष तक के लिए सीमित नहीं रहने दिया, बल्कि उसे स्वेच्छा-मूलक बना दिया है । मानव जब चाहे उत्तेजक पदार्थ खा-पीकर, उत्तेजक वातावरण रचाकर, अपने आप को मदन-शर से पीड़ित कर सकता है ।

मानव की काम-विषयक इस पारंगतता को देखते हुए समाज को यह खतरा शुरू से ही महसूस होता रहा है कि कहीं यह तीव्र प्रवृत्ति,अन्य प्रवृत्तियों को दबा न दे । इस खतरे से बचने के लिए समाज यौन-सम्बन्धी निषेध-नियमों को कठोर बनाता है । परिणाम वांछित से उल्टा निकलता है । निषेध जितने अधिक कठोर बनते हैं यौनानुभूति उतनी अधिक तीव्र हो जाती है ।

यौन-प्रवृत्ति पर ही अधिक प्रतिबंध क्यों ?

यह कहना कठिन है कि यौनावेग की प्रबलता देख कर समाज ने यौन-प्रवृत्ति पर कड़े निषेध लागू किये या इन निषेधों के कारण इस प्रवृत्ति को प्रबल बनने का अवसर मिला । `पहले अण्डा या पहले मुर्गी` जैसे इस विवाद में न पड़ कर यह मान लेना सुविधाजनक है कि पहल चाहे किसी की भी रही हो, यह प्रवृत्ति इस समय प्रबल है । अब देखना यह है कि इस प्रवृत्ति को पुन: सामान्य-स्तर पर लाने के लिए कामावेग पर से वर्जनाएं कम करने का जो आंदोलन चला है, वह कहाँ तक ठीक है ।

इतना तो स्पष्ट है ही कि अन्य आवेगों की अपेक्षा यौनावेग के प्रति समाज का रुख अधिक कड़ा रहा है । उस कड़ाई का जो कारण समझ में आता है, वह यह है कि समाज अपने नियम वहाँ लागू करता है, जहाँ समाज के एक सदस्य के किसी कृत्य का प्रभाव दूसरे सदस्य पर पड़ता हो ।

एक व्यक्ति भोजन कम करता है या अधिक,यह उसके अपने पाचन-संस्थान का मामला है । वह गेहूँ,चावल,तीतर,बटेर,शेर, हिरन जो चाहे खा सकता है, बशर्ते कि उसने वे वस्तुएं चोरी करके प्राप्त न की हों, लेकिन कोई व्यक्ति यदि आदमी का गोश्त खाना चाहे तो समाज उसका विरोध करेगा । वह इसलिए कि उसने अपनी रसना के सुख के लिए समाज के एक सदस्य का हनन किया ।

शौच-निवारण-क्रिया हर व्यक्ति का निजी मामला है। कोई दिन में कितनी बार मल-विसर्जन करता है, समाज को इस बात से कोई मतलब नहीं रहता । यदि वह क्रिया सार्वजनिक-स्थान पर

होती है तो समाज इस कृत्य पर आपत्ति करता है ।

किसी भी ऐसे आवेग या प्रवृत्ति पर समाज तब तक कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता, जब तक एक का कु-फल दूसरे को नहीं भोगना पड़ता । यौन-प्रवृत्ति एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसकी तुष्टि के लिए समाज के एक सदस्य को दूसरे की आवश्यकता होती है । जहाँ एक को दूसरे की आवश्यकता होती है वहां एक लघु-समाज की नींव पड़ जाती है । उस लघु-समाज के दोनों सदस्यों के हानि-लाभ का विचार करना वृहत्-समाज का कर्तव्य है ।

यदि दो यौन-सहकर्मियों में से भोक्ता घर्षकामी (सैडिस्ट) है, और दूसरा उसका भोग्य सामान्य यौनावेग का स्वामी है तो भोक्ता को सुख देने के लिए भोग्य को कष्ट की स्थिति से गुजरना पड़ता है । समाज ऐसे समय में दलित का पक्ष लेता है । उसे कष्ट से बचाने के लिए वह कोई-न-कोई नियम बनाता है ।

यौन-सक्षमता की दृष्टि से यदि एक इकाई परिपक्व है, दूसरी अपरिपक्व और पहला दूसरे से बलात्-समागम करता है, तो वह सामाजिक अहित करने वाला समझा जाएगा । उस किस्म की पुनरावृत्तियों को रोकने के लिए समाज दूसरा नियम बनाता है । यदि दोनों इकाईयां यौन-दृष्टि से परिपक्व हैं, किन्तु समाज का गठन इस प्रकार का है कि एक का (पुरुष का)दूसरे से (अगम्य स्त्री से) बलात् समागम करना, दूसरे को सामाजिक अधिकारों से वंचित कर देता है तो ऐसे बलात्-कर्म को रोकने के लिए, बलात्कारी को सजा देने के लिए समाज तीसरा नियम बनाता है।

कई अवसरों पर समाज दोनों यौन-सहकर्मियों की सुखद स्थिति में भी बाधा डालता है । प्रकटत: उन दोनों में से किसी का शोषण होता नहीं दिखता, लेकिन समाज को वह कृत्य पसन्द नहीं होता । मसलन दो समलिंगी मैथुनाभ्यस्त एक-दूसरे

के पूरक बनते हैं या कोई पशु-गमन करता है अथवा कोई हस्त-मैथुन को अपने सुख का साधन समझता है, वे सब प्रकटत: समाज के किसी सदस्य का अपकार नहीं करते, फिर भी उन्हें समाज की ताड़ना का भागी बनना पड़ता है ।

उक्त प्रकार के यौन-कर्म उस समाज में गर्हित समझे जाते हैं, जिस समाज में अन्य-लिंगीय-समागम की परिपाटी प्रचलित होती है । उस समाज का कोई सदस्य यदि समलिंग-गामी है, पशु-गामी है या आत्मतोषी है, तो वह अपने हिस्से में आने वाली दूसरी अन्य-लिंगीय-इकाई को परोक्ष रूप से यौन सुख से वंचित कर रहा है । जो वंचित हो रहा है वह शोषित है । शोषित का पक्ष लेकर शोषक को रोकना समाज का कर्त्तव्य है ।

हर युग, हर देश या हर जाति के समाज की अपनी आवश्यकताएं होती हैं । समाज की पुरानी आवश्यकताएं समाप्त हो जाती हैं, नयी जन्म ले लेती हैं लेकिन समाज को पुरानी लीक पर चलते रहना सरल लगता है, किन्तु अधिक समय तक वह बहु-संख्यकों की आवश्यकताओं की अवहेलना नहीं कर सकता। सामाजिक मान्यताएं नई ज़रूरतों के मुताबिक बदलती हैं । पुराने विधि-निषेध बदल कर नये लागू किये जाते हैं । नये फिर पुराने हो जाते हैं, लेकिन सख्त या नर्म, कोई-न-कोई नियम फिर भी रहता ही है । निषेध पूर्णत: खत्म नहीं किये जा सकते ।

....

वर्जन-हीन समाज की परिकल्पना

यौनावेग पर लगाए गए प्रतिबन्धों पर आज के मानव की आस्था समाप्त हो चली है। उस अनास्था का कारण मनोवेत्ताओं के कुछ फ़तवे हैं जिनका सार यह है — 'अधिकतर मनोविकारों का कारण यौन-सम्बन्धी कुण्ठाएं हैं। कुण्ठाओं का कारण यौन-प्रवृत्ति पर लगाए गए प्रतिबन्ध हैं।' इसमें संशय नहीं कि यौनावेग पर लगे हुए प्रतिबन्धों ने इस प्रवृत्ति को असामान्य बनाया है, लेकिन वे प्रतिबन्ध हटा लेने से यह प्रवृत्ति सामान्य बन जाएगी — इसमें संशय है।

मानव शुरू से निषेध-पूर्ण वातावरण में रहता आया है। 'यह मत करो, वह मत खाओ, इसे मत छुओ और उसके निकट मत जाओ' — जैसे वाक्य शैशव से मानव सुनने लगता है और अन्त तक सुनता चला जाता है। वर्जनाओं से भरे वातावरण में रह कर वह निष्क्रिय रह नहीं सकता। उसे नज़र बचा कर या प्रत्यक्ष रूप से निषेधाज्ञाओं का उल्लंघन करना पड़ता है। फल यह होता है कि शैशव से तरुणावस्था को पहुँचने तक वह निषेधों के विरोध का इतना आदी हो जाता है, जितना कि पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति के विरोध करने का होता है। एक अर्से तक वर्जना का प्रतिरोध करते रहने के बाद स्थिति ऐसी आती है जब निषेध और प्रतिरोध एक-दूसरे पर आश्रित हो जाते हैं। उस समय मानव के सामने जटिल समस्या तब आती है, जब सारे निषेध हटा लिए जाते हैं। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के एकाएक समाप्त

हो जाने से जिस आधारहीन-सृष्टि की कल्पना की जा सकती वैसी ही आधारहीनता का आभास समाज से निषेध निकाल देने से होने की सम्भावना है। उस वर्जनहीन स्थिति में मानव के सामने यह समस्या आ खड़ी होती है कि वह अपनी विरोध करने की आदत का क्या करे ? यह समस्या उसे नया निषिद्ध वातावरण बनाने के लिए प्रेरित करती है।

मानव चाहता बेशक है कि उसके लिए कुछ वर्जित न रहे। यौन-सम्बन्धी सामाजिक नियम, उपनियम हट जाएं। जहाँ, जब और जिससे उसका जी चाहे, वह यौनानन्द प्राप्त कर सके, लेकिन वह यह भूलता है कि नियम चूंकि हैं, इसलिए अनियमित होने के सपनों में आकर्षण हैं। यदि नियम न रहें तो आकर्षण भी न रहेगा।

वह आकर्षण-हीन स्थिति कभी आ भी नहीं सकती। वह इसलिए कि नियम समाप्त हो नहीं सकते। आगामी-कल के नियम आज के नियमों की अपेक्षा सरल बनाए जा सकते हैं, खत्म नहीं किए जा सकते।

इस युग में यौन-सम्बन्धी जिन नियमों के संकुचित घेरे में हम रह रहे हैं, हो सकता है कि उस घेरे को हम तोड़ लें, लेकिन उस घेरे को तोड़ते ही हमें ज्ञात होगा कि छोटे वृत्त से बाहर उससे बड़ा वृत्त मौजूद है, जहां से आगे जाने की अनुमति नहीं है। उस वृत्त को तोड़ कर यदि हम बड़े वृत्त में पहुँच जाएं तो भी हम संतुष्ट न रह सकेंगे, क्योंकि उस वृत्त से बाहर का दृश्य हमें तब भी लुभाता रहेगा और उस तक जाने का काल्पनिक सुख हमें वह घेरा भी तोड़ने पर मजबूर करेगा। आनन्द की तलाश में बड़े-से और बड़े घेरे को तोड़ते हुए हम कहाँ-से-कहाँ तक जा सकते हैं, उसकी

कल्पना ही की जा सकती है ।

मान लीजिए कि किसी सार्वजनिक स्थान पर अन्य-लिंगीय-व्यक्तियों को छूना निषिद्ध है तो दो भिन्न-लिंगियों का मात्र एक-दूसरे को छू लेना उनमें मादकता भर देगा । यदि उस सार्वजनिक-स्पर्श-सुख पर समाज को आपत्ति न रहे, लेकिन उनके परस्पर चूमने पर हो तो चूमना स्पर्श-सुख का स्थानान्तरित सुख बन जाएगा । यदि सार्वजनिक-चुम्बन को सामाजिक मान्यता प्राप्त हो जाए तो चुम्बन रसहीन हो जाएगा और खुले-आम मैथुन-क्रिया के आनन्द की कल्पना आंखों में बस जाएगी । यदि इस प्रकार के मैथुन पर भी समाज आपत्ति करना बन्द कर दे तो यह क्रिया भी अपना आकर्षण खो बैठेगी । आनन्द के खोजी मानव को यौन-सुख प्राप्त करने के लिए उसके आगे के किसी पड़ाव पर पहुँचना होगा, कोई ऐसा पड़ाव जहाँ तक जाना निषिद्ध हो । निषेध के ये घेरे टूटते-टूटते, एक समय ऐसा आयेगा जब आज के `विकृत कामी` समझे जाने वाले लोग `सामान्य` समझे जाएंगे और `विकृत-कामी` शब्द को सार्थक करने के लिए हमारी अगली पीढ़ियों को कोई और क्रूर-रूप अपनाना होगा ।

....

वर्जन-हीन-समाज का आदर्श

वर्जन-हीन-समाज गठित करने की प्रेरणा मानव ने पशु-जीवन से पायी है। पशु जहाँ चाहते हैं, यौन-समागम कर लेते हैं। नर-मादा एक-दूसरे को अनावृत देखते रहते हैं, लेकिन उनका नंगापन उनमें उत्तेजना नहीं लाता।

प्रागैतिहासिक-काल के चिन्ह-स्वरूप कुछ कवीले भी हमारी इस छोटी-सी दुनियां के किसी-न-किसी कोने में अव तक अवशिष्ट हैं। उन आदिवासियों की दिनचर्या वहुत कुछ पशु-जीवन से मिलती-जुलती है। जो लोग साहसिक-यात्राओं के दौरान उनके जीवन को निकट से देख आए हैं, उनका कहना है कि वे लोग यौन-सम्वन्धों और यौनांगों के वारे में गोपनीयता नहीं वरतते, न उनके जीवन में यौन-सम्वन्धी निषेध है और न उनके सामने आधुनिक समाज की सी यौन-समस्याएं हैं।

अव सवाल यह है कि आधुनिक समाज यदि अपनी यौन-समस्याओं से छुटकारा पाना चाहे तो क्या उसे पशुओं के या प्रागैतिहासिक जातियों के यौन-जीवन का अनुकरण करना चाहिए ?

इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक समाज में यौन-समस्याएं हैं और इस वात को भी हम स्वीकार करते हैं कि उन समस्याओं के कारण काम-भावना पर लगाए गए वंधन ही हैं। फिर भी हमें ज़ोर देकर यह कहना है कि समस्याओं का हल पशुओं का या आदि-मानवों का सा यौन-जीवन अपनाने में नहीं

है। प्रत्येक जीव का यौन-जीवन उसके समग्र-जीवन का एक भाग होता है। किसी भी समुदाय के समग्र जीवन का पर्यवेक्षण किए बिना मात्र उसके यौन जीवन को आदर्श मान कर अपना यौन-जीवन उसके जैसा ढालना मुनासिब नहीं लगता।

जिन पशुओं को नंगा देख कर हम अपना लिबास तार-तार करने जा रहे हैं, हमें चाहिए कि उन पशुओं की मजबूरी को समझें। उनकी मैथुन-स्वच्छन्दता देखकर अपनी मैथुन-गोपनीयता को तिलांजली देने से पहले उनके समग्र जीवन पर विचार कर लेना आवश्यक है।

पहली बात यह है कि हम में पशुओं की समस्याएं समझने का सम्यक्-सम्बोध नहीं है। मानव प्रकृति का विजेता है इसलिए उसका यौन-जीवन प्रकृति पर निर्भर नहीं रहा। अपनी सुविधा के अनुसार अपने आपको जब जी चाहे गर्माने की विधि मानव ने जान ली है। पशु अभी उतनी विधियां नहीं जान पाया। उसका जीवन बहुत कुछ प्रकृति पर निर्भर है इसलिए उसके उत्तेजित होने में ऋतुओं का महत्त्व है। पशुओं में मानव जैसा समाज नहीं है, इसलिए उसके यौन-जीवन पर सामाजिक-बन्धन होने का सवाल ही नहीं उठता, फिर भी उनका यौन-जीवन निर्बन्ध नहीं है। हम देखते हैं कि एक ताकतवर कुत्ता कमजोर कुत्तों को खदेड़ कर मन-पसन्द कुतिया को भोगता है। खदेड़ा गया कुत्ता अवश्य कुंठित होता होगा।

कुत्ता चूंकि मानव-समाज का एक अंग बना हुआ है इसलिए उसका उदाहरण सरलता से दिया और समझा जा सकता है, लेकिन अन्य जो जीव मानव से दूर हैं उनमें भी बलवान से निर्बल के डरते रहने का विधान है, जो उनकी स्वच्छन्दता में बाधा बनता है।

शक्तिमान और शक्तिहीन का भेद मानव समाज में भी है । यह और बात है कि मानव-समाज में शक्ति का अर्थ केवल शारीरिक-वल नहीं समझा जाता । धन, पद, अधिकार, वर्ग आदि कई रूपों में मानव की शक्ति संचित हो सकती है । जिस प्रकार की शक्ति जब समाज में सर्वोपरि समझ ली जाती है, उस प्रकार की शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति को मन पसन्द यौन-जीवन विताने की अपेक्षाकृत अधिक सुविधा होती है ।

कौन से युग में किस प्रकार की शक्ति का महत्त्व अधिक आँका जाता है, यह मानव समाज का अन्तरंग विषय है । इस समय चर्चा यह चल रही है कि पशु के समग्र-जीवन को समझे विना उसके यौन-जीवन को अपना आदर्श मानना मानव के लिए उचित है या नहीं ।

पशु धूप में छाता नहीं तानते, वरसात में वरसाती-कोट नहीं ओढ़ते और शौच के समय वाथ-रूम का रास्ता नहीं पूछते, वे यदि यौवनावेश के समय मैथुन-कक्ष तलाश किए बिना अपने यौन-कर्म में संलग्न हो जाते हैं तो इसमें आश्चर्य क्या ? पशु, जिन्हें मौसम को अनुकूल वनाने की विधि ज्ञात नहीं, जिनमें द्रव्यों से जीवन-तत्त्व (विटामिन) खोजने की क्षमता नहीं, परिश्रम से जी चुराने के लिए जिनके जीवन में आविष्कार नहीं आए, उन सरल बुद्धि पशुओं के यौन-जीवन का अनुकरण करने की वात मानव सोचता कैसे है ? वह मानव, जो शक्ति को वैंक-वैलेंस की तरह जितने अर्से तक चाहे सुरक्षित रख सकता है, जब चाहे मादक वातावरण रच कर उस शक्ति को निकाल सकता है, समाज उस मानव को वह यौन-स्वच्छंदता दे कैसे सकता है, जो पशुओं को प्राप्त है !

माना कि आदि-जातियों में यौन-स्वच्छन्दता आधुनिक समाज की अपेक्षा अधिक है, लेकिन उनके शारीरिक-कष्टमय जीवन

और इनके शारीरिक-सुख-सुविधापूर्ण जीवन का मुकाबला ही क्या। जो जातियाँ शिकार करके अपना पेट पालती हैं, शिकार भी बंदूकों से नहीं करतीं, तीर-कमानों और भालों से करती हैं, जीपों पर बैठ कर नहीं करती बल्कि पैदल भाग कर करती हैं। ऊपर-नीचे चढ़ने-उतरने के लिए जिन्हें लिफ्टों की सुविधा नहीं मिली, सर्दियों में गर्मियों का-सा और गर्मियों में शीत ऋतु का-सा वातावरण बनाने की वैज्ञानिक-विधियों से जो अनभिज्ञ हैं, जिनके जीवन में न खजुराहो के खंडहर हैं, न वेनिस की मूर्तियां, न उत्तेजक-फिल्में हैं न श्रृंगार-साहित्य। सभ्य कहे जाने वाले समाज का अपेक्षाकृत समर्थ मानव, यदि उस अपेक्षाकृत असमर्थ आदि-मानव के यौन-जीवन का अनुकरण करना चाहता है तो यह उसकी अनाधिकार चेष्टा है। यदि वह उन जैसा यौन-जीवन अपनाने की आज्ञा पाना चाहता है तो उसे उनका-सा समग्र-जीवन अपनाना होगा।

उनके समग्र-जीवन की नक़ल करने के लिए मानव को प्रकृति पर की हुई सारी विजय भुला कर, उन्हीं की तरह प्रकृति पर निर्भर हो जाना पड़ेगा। उसे वातानुकूलित-अट्टालिकाएं छोड़ कर पर्वतों की कन्दराओं में या वृक्षों की सघन छाया में अपना ठिकाना बनाना होगा। ट्रेक्टर छोड़ कर हल उठाने होंगे। हल भी पत्थर के फलवाले। गुदगुदे बिस्तर छोड़ने होंगे, पत्थरों और पत्तों को अपना तकिया बनाना होगा। दियासिलाई छोड़ कर पत्थर रगड़ कर आग पैदा करनी होगी, अपना सारा साहित्य जला देना होगा और चक्र-व्याज की तरह बढ़ते हुए अपने ज्ञान को मस्तिष्क के कोषों में से निकाल फेंकना होगा और वह अबोधावस्था प्राप्त करनी होगी, जिस अबोधावस्था में आदि मानव हैं। वह अबोधावस्था प्राप्त करने के बाद मानव जटिल नहीं रहेगा। उस सरल-प्रकृति मानव पर से यौन-

सम्बन्धी नियम ढीले किये जा सकते हैं। किये जा सकने की बात ही क्यों कही जाए, उस अबोधावस्था वाले मानव के लिए अब भी यौन-सम्बन्धी निषेध नहीं है। आवरण-हीन शिशु पर किसी भी समाज ने कभी आपत्ति नहीं की। हम में से हर व्यक्ति उस अबोधावस्था में से गुज़र चुका है।

जब कोई व्यक्ति या वर्ग यौनावेगों पर से अंकुश हटाने या शरीर को अनावृत करने की बात करता है और अपने पक्ष को सबल बनाने के लिए आदि-मानव का या पशु-जीवन का आदर्श प्रस्तुत करता है तो दूसरों को भुलावा देने का प्रयत्न करता है। वास्तव में वह वर्तमान बोधावस्था में रहते हुए, मनोरंजन के लिए अस्थायी तौर पर अबोधावस्था के मानव सरीखा यौन-आचरण करना चाहता है। वर्जन-हीन-जीवन बिताने का पक्षपाती व्यक्ति वास्तव में वही है जो निरन्तर यौनाभ्यास कर-करके अपनी उत्तेजन-शीलता का ह्रास कर चुका है। उत्तेजित होने के लिए अब उसे पहले से अधिक तीव्र प्रेरकों की आवश्यकता है।

....

प्रकरण — ४

उत्तेजन-क्षमता के स्तर

— वेदना संवेदन

वेदना संवेदन

'आज टेम्ज़ नदी में एक नग्न युवती की लाश पायी गयी। युवती के चार दाँत टूटे हुए थे और शरीर पर जगह-जगह घाव के निशान थे। पुलिस का विचार है कि ....'

यह समाचार कौन-से अख़बार के किस पृष्ठ पर छपा था, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। प्रगतिशील समझे जाने वाले देश के किसी समाचार-पत्र के किसी पृष्ठ पर इससे मिलती-जुलती ख़बर देखी जा सकती है। उस और इस ख़बर में अन्तर यह हो सकता है कि दूसरी लाश किसी नदी के बजाय किसी नहर, पहाड़ की तराई या कूड़े के ड्रम में से मिली हो। लाश की स्थिति में भी अन्तर हो सकता है। वह यह कि दूसरी लाश के दाँत तो सही सलामत हों, मगर उसके कुच काट डाले गये हों या उसके यौनांगों को किसी तेज़ धार के शस्त्र से चीड़ा-फाड़ा गया हो।

कल के समाचार-पत्र में इससे मिलती-जुलती जितनी ख़बरे थीं, आज के में उससे अधिक हैं और प्रगति की रफ़्तार को देखते हुए लगता है कि भविष्य में इससे भी अधिक लोम-हर्षक खबरें पढ़ने-सुननें को मिलेंगी।

यह सब क्या हो रहा है? क्यों हो रहा है? इन दोनों प्रश्नों का उत्तर एक है कि 'इस युग के व्यक्ति का उत्तेजनशीलता का धरातल ऊँचा उठ रहा है।'

जिन दिनों नर नारी के पारस्परिक स्पर्श पर कड़े सामाजिक निषेध होते थे, उन दिनों त्वक्-संवेदना का अंतिम

पड़ाव मैथुन समझा जाता था। आज अपेक्षाकृत निषेध-हीन समाज में मैथुन स्पर्श-सुख का अंतिम पड़ाव नहीं रहा, बल्कि यह एक सामान्य-सी सुखद-क्रिया बन कर रह गयी है। उस सामान्य को असामान्य बनाने के लिए मानव उससे आगे बढ़ा है। वह अपने यौन-पूरक को यातना देने या उससे यातना पाने में यौन-सुख की अनुभूति पाने लगा है।

यों तो ' मैथुन ' स्वयं एक वेदना-मयी क्रिया है। सामान्य-वयस्क-व्यक्ति को चूंकि इस क्रिया में मज़ा आता है, इसलिए वह इसे वेदना-दायक क्रिया न समझ कर सुखद क्रिया समझता है। इस क्रिया में वेदना का अनुभव वे ठंडे - पुरुष, ठंडी-स्त्रियां या कच्ची उम्र की किशोरियां अवश्य करती हैं जिन्हें बलात् इस क्रिया में भाग लेना पड़ता है। मैथुन तो दूर की बात, उन्हें प्राक्-क्रीड़ाओं तक में कष्ट की अनुभूति होती है।

ठंडी-स्त्रियों या ठंडे-पुरुषों की बात जाने दीजिए, सामान्य वयस्क-व्यक्तियों के लिए चूंकि मैथुन सुखद-क्रिया है इस-लिए मैथुन-क्रिया को ' वेदना-संवेदन ' के अन्तर्गत नहीं समझा जाता। इस संवेदन के अन्तर्गत केवल वही क्रियाएं आती हैं जिनमें नख, दंत और योनांगों का स्थान तेज़ धार के शस्त्र और कोड़े ले लें।

' वेदना-संवेदन ' अभी सामान्य नहीं समझा गया। इसलिए इस संवेदना में सुख की अनुभूति पाने वाले व्यक्ति मानसिक रोगी समझे जाते हैं। इस रोग से रुग्ण व्यक्तियों में पुरुष भी होते हैं, स्त्रियां भी, लेकिन इस संवेदना का प्रथम प्रेरक पुरुष को समझा जाना चाहिए। मैथुन के समय नारी के लिए कष्टकर बनना पुरुष अपना विशेष गुण मानता चला आ रहा है। जो पुरुष शारीरिक-मिलन के समय अपनी यौन-सहयोगिनी से सीत्कार

नहीं करा पाता वह अपना पौरुष निष्फल समझता है। उसके सहवास का बराबर संग निभाने वाली नारी भी वेदना-सहिष्णुता की इतनी आदी हो गयी है कि वह कष्ट पाने की एक विशेष मंजिल तक पहुँचे बिना अपना सुख अधूरा समझती है। गोया पुरुष शुरू से ही अपनी धर्षकामी होने की योग्यता बढ़ाता रहा है और नारी मर्ष-कामिनी (मैसोशिस्ट) बनने की ओर अग्रसर रही है। अपवाद-स्वरूप समाज में कुछ पुरुष मर्षकामी भी होते हैं और नारियां धर्ष-कामिनी भी। इस प्रकार के विपरीत गुणों से युक्त पुरुष कोड़े लगवा कर और नारियां पुरुषों को तड़पा कर अपनी इस संवेदना-समस्या का निराकरण करती हैं।

कोड़े लगाना या लगवाना मानव की यौन-सुख की यात्रा का, मैथुन के बाद का पड़ाव है। उस पड़ाव तक पहुँचने के लिए सभ्य समाज किन-किन मंजिलों में से गुजरा है, यह जानने के लिए हमें सब से पहले 'बलात्कार' की प्रवृत्ति का विश्लेषण करना चाहिए।

सामान्य-व्यक्ति मैथुन-काल में नारी के 'सीत्कार' को अपने प्रबल पुरुषत्व का प्रमाण मानते रहे, असामान्य व्यक्तित्व उस 'सीत्कार' को 'चीत्कार' का रूप देना अपने घोर-पुरुषत्व के लिए जरूरी समझते थे। वे ऐसे व्यक्ति थे जो अधिक कामाभ्यास करते रहने के कारण अपनी उत्तेजन-शीलता खो चुके थे। निरन्तर प्रयुक्त होते रहने की वजह से ढीले हो चुके स्नायुओं को फिर से कसने के लिए वे मैथुन को अधिक संघर्षमय बनाना चाहते थे। ऐसे व्यक्तियों का आहार अत्यन्त शक्तिदायक होता था और उनके शारीरिक परिश्रम के काम उनके

अधीनस्थों के सुपुर्द होते थे। अपनी ढेर-सी अतिरिक्त-शक्ति को तीव्रगति से क्षरित करना उनके शरीर तंत्र की आवश्यकता थी। वह अपार अतिरिक्त-शक्ति भला साधारण मैथुन द्वारा कैसे निचुड़ सकती ? फलत: वे मैथुन को संघर्षमय बनाने के लिए बलात्कार का रास्ता अपनाते थे।

बलात्कारी के प्रति समाज का रुख़ शुरू से ही कड़ा रहा है। इसलिए यह क्रिया करते समय कर्ता को सामाजिक-भय की आशंका बराबर बनी रहती है। इससे `भय` नामक आवेग के रूप में शक्ति क्षरित होने का एक और मार्ग खुल जाता है। अपने शिकार के प्रतिरोध का सामना करके उससे यौन-सुख छीनना होता है। छीना-झपटी के रूप में शक्ति व्यय के लिए नया मोर्चा खुल जाता है। इस प्रकार कई उत्तेजनाओं के रास्ते से शक्ति व्यय करने और संयुक्त उत्तेजनाओं के आनन्द का एक बार चस्का पड़ने पर कर्ता को साधारण-मैथुन में आनन्द नहीं आता।

`बलात्कार` वेदना-संवेदन का एक हल्का-सा रूप था, जिसमें कष्ट पहुँचाने के लिए किसी शस्त्र का सहारा नहीं लिया जाता था, बल्कि यौनांग द्वारा जितना कष्ट दिया जा सकता था, उतने से ही संतोष कर लिया जाता था।

बलात्कार के लिए कर्ता को जितने गहरे सामाजिक रोष का सामना करना पड़ता था, वह सामना करना हरेक के बस की बात न थी। अत: यह रास्ता या तो पक्के अपराधी अपनाते या राजा-नवाब अथवा तानाशाह किस्म के अधिकारी-जन। जो लोग उपर्युक्त श्रेणियों में न आते थे, मगर साधन-सम्पन्न होते थे, वे बलात्कारी बनने की कामना तो करते थे, लेकिन सामाजिक-नियमों

का खुला अतिक्रमण करने में वे असमर्थ होते थे । वे बलात्-सम्भोग के लिए सुरक्षित वातावरण की ज़रूरत महसूस करते । आवश्यकता और आविष्कार का कारण-कार्य सम्बन्ध होता है, अतः अर्थवादी समाज में `वेदना-संवेदन` के क्षेत्र में एक नया शब्द जुड़ा — `नथ-उतारना`। वेश्यावृत्ति के संचालक अपने साधन-सम्पन्न ग्राहकों के लिए अव्यवहृत-ललनाएं प्रस्तुत करते । उनकी सतीत्व की झिल्ली अपने यौनांग द्वारा फोड़ कर, उससे निकले रक्त को देख कर उस काल के वे घर्ष-कामी अपने आपको नारियों के लिए कष्टकर समझ कर श्रेष्ठत्व की भावना से विभोर हो जाते । इस प्रकार सुरक्षित वातावरण में किए जाने वाले बलात्कार का प्रचलन आज भी हर जगह है । इस सुरक्षित-बलात्कार की विधि के विधान में नथ उतरी (पूर्व-प्रयुक्त) और बिना नथ उतरी (अप्रयुक्त) वेश्या के दाम में ज़मीन आस्मान का फर्क होता है । उस फर्क का कारण यह है कि व्यवहृत-ललना में अपने आपको मैथुन से बचाने के प्रति-रोध में वह तेजी नहीं होती जो अव्यवहृत में हो सकती है ।

इस प्रकार के असामान्य-यौन-सुख प्राप्त करने के इच्छुकों को इस प्रकरण में हम यौन-अजीर्ण का रोगी कहेंगे । `अजीर्ण` शब्द यहाँ एक विशेष भाव प्रकट करने के लिए प्रयुक्त हुआ है । जिस प्रकार अजीर्ण का रोगी संयुक्त-रसों के पदार्थों का निरन्तर सेवन कर-करके अपनी रसना के स्वाद-केन्द्रों को मृतप्राय बना लेता है, उन्हें पुनर्जीवित करने के लिए वह ठंक जैसी मार मारने वाले उत्तेजक मसालों का सहारा लेकर भोजन निगलता है, उसी प्रकार यौनाभ्यास की निरन्तर पुनरावृत्ति से हलकान हुआ व्यक्ति, अपने मृतप्राय काम-भाव को पुनर्जीवित करने के

लिए मैथुन को मसालेदार बनाने की चेष्टा करता है। वह यौनावेग के साथ भय-रौद्र आदि कई आवेग मिश्रित कर लेता है। तब कहीं उसे आनन्द की अनुभूति प्राप्त होती है।

पुराने युग में जो यौन-अजीर्ण कुछ साधन-सम्पन्नों और असामान्य-जनों को हुआ करता था, यौनावेग पर से सामाजिक निषेध कम होने के कारण वह अजीर्ण अब सार्वजनिक बन गया है। औसत व्यक्ति का उत्तेजन-क्षमता का धरातल पहले से कहीं ऊँचा उठ चुका है।

यह नहीं कि केवल यौनोत्तेजना के क्षेत्र में व्यक्ति की उत्तेजन-क्षमता-स्तर ऊँचा हुआ हो, किसी भी आवेग से संबंधित उत्तेजना का रस लेने के लिए आज के मानव को पहले से अधिक तीव्र प्रेरकों की आवश्यकता पड़ गयी है। मिसाल के तौर पर मुक्केबाजी के खेल, क्रुद्ध-सांडों के द्वन्द्व-प्रदर्शन, फ्रीस्टाईल कुश्तियां और बर्फ पर फिसलने या तेज गति से कार चलाने की प्रतियोगितारं, इन सब खतरनाक अभियानों में मानव का रस लेना यह प्रकट करता है कि उत्तेजन-शीलता का सामान्य धरातल बदल चुका है। प्रगतिशील देशों में घर में सजावट के लिए पाली जानेवाली रंग-बिरंगी मछलियों और पक्षियों का स्थान साँप, बिच्छू और मगरमच्छों ने ले लिया है। कुत्तों के वजाय आज का मानव भेड़ियों की दोस्ती मोल लेने पर आतुर हो उठा है। और तो और स्टेज पर खड़ा विदूषक अपने दर्शकों को हँसाने में तब तक सफल नहीं होता, जब तक वह अपने सिर पर तबला न बजवा पाए।

साधारण खेल-तमाशों में रस लेने के लिए यदि औसत-व्यक्ति को इतनी तीव्र-प्रेरणाओं का सहारा लेना पड़ता है, तो

स्पष्ट है कि यौनोत्तेजना का रस लेने के लिए उसे उससे कहीं आगे जाना पड़ेगा ।

संतोष की बात है कि उत्तेजन-क्षमता का धरातल संसार के सभी भागों में एक-सा नहीं है । जिन देशों में सामाजिक-निषेध अपेक्षा-कृत अधिक हैं, वहाँ संवेदन-शीलता अधिक है । उन देशों में वेश्याएं हैं । उनका प्रयोग मैथुन के लिए किया जाता है, लेकिन जिन देशों में यौनावेग पर से प्रतिबन्ध घटे हैं, वहां वेश्याओं का प्रयोग मैथुन के लिए अपवाद-रूप में किया जाता है । उन देशों के प्रगतिशील लोग उनके साथ सोने में सुख पाने के बजाय, अपने बूट की ठोकर से उनके दाँत तोड़ देने में अधिक सुख पाते हैं । अपने यौन-पूरक के शरीर पर दंत-क्षत और नख-क्षत के चिन्ह बनाने की बजाए, चाकू से उनकी त्वचा छीलने के लिए वे अधिक लालायित है। शिश्न से कष्ट पहुँचाना वे काफी नहीं समझते, क्यों कि नारी के मुख से मात्र 'सीत्कार' सुनना अब उनका अभीष्ट नहीं है बल्कि वे उसके मुख से चीत्कार सुनना चाहते हैं । उनके इन कृत्यों की पृष्ठ-भूमि में नारी के उद्दीपक फैशन हैं । उन फैशनों को चलाने के लिए प्रेरित करने वाला चाहे खुद पुरुष है, लेकिन फैशन-पैरेडों की इस भीड़-भाड़ में किसको इतनी फुरसत है कि वास्तविक प्रेरकों की छान-बीन करे । वास्तविक कारण चाहे कुछ भी हो, लेकिन यह सच है कि अपने आपको प्राप्तव्य बनने की प्रतियोगिता में एक नारी दूसरी से बाज़ी मार ले जाना चाहती है । वह अधिक से अधिक पुरुषों को लुभाना चाहती है और कम-से-कम पुरुषों के लिए सुलभ बनना चा-हती है। पहले अपने प्रति लोभ दिलाना, फिर अप्राप्य बनना — यह क्रिया पुरुष की प्रतिहिंसा की अग्नि को बढ़ावा देती है । वह नारियों को पाना चाहता है, अपने साथ सोने का अवसर देने के लिए नहीं, क्योंकि सह-शयन में उसके लिए कोई नवीनता नहीं ;

सतीत्व-हरण के लिए भी नहीं क्योंकि प्रगतिशील समझे जानेवाले समाज में सतीत्व की वह महिमा नहीं रही ; बलात्कार के लिए भी नहीं, क्योंकि उस समाज की नारी के लिए यह शर्मिन्दगी की बात नहीं रही, बलात्कार के लिए भी नहीं, क्योंकि उस समाज की वयस्क नारी के लिए बलात्कार अब हौआ नहीं रहा, बल्कि वह क्रिया अब उसके लिए रोचक अभियान बन गयी है ; यौन-अजीर्ण का वह रोगी अपने आपको बेवकूफ नहीं समझता कि नारी-समुदाय द्वारा पीड़ित होकर उसी की पसन्द का कोई काम उसके साथ करे । उसकी प्रतिहिंसा की भावना कैसे शांत हो ? इस उधेड़बुन में कभी वह उसके दाँत तोड़ देता है, कभी उसके शरीर पर घाव बना देता है । इससे कम वेदना पहुँचाए बिना उसकी सादवादी प्रवृत्ति का शमन नहीं हो सकता ।

एक ओर कष्टकर बनने के लिए वह उपर्युक्त क्रियाएं करता है, दूसरी ओर अपने आपको उत्तेजित करने के लिए वह उसी नारी से याचना भी करता है कि वह उसे कष्ट पहुँचाए । यौन-अजीर्ण के इस रोगी की संवेदन-शून्य त्वचा अब साधारण स्पर्श से रोमांचित होने के योग्य नहीं रही, क्योंकि सामान्य स्पर्श से उसके रक्त-संचार में वह द्रुत-गति नहीं आती जो उत्तेजना को उच्चतम शिखर पर पहुँचाती है । पौरुष-वर्द्धक-औषधियाँ खा-खाकर निढाल हुए शरीर में पुन: गर्मी लाने के लिए वह मानो चीख-चीख कर कहना चाहता है :—

`हाय । मैं क्या करूं । मेरे लिए यौनांगों के परस्पर मिलन में कोई सुख नहीं रहा । मेरे अंगों को अब कोई निष्क्रिय चिकनी ग्रहणक-प्रणाली नहीं चाहिए । उसके घर्षण के लिए कोई खुरदरे किस्म की ग्रहणक वस्तु लाओ और कुछ न हो

तो उसे मुख में ले कर देखो । खुरदरी ज़बान से उसका स्पर्श करके देखो, शायद पुनर्जीवित होकर यह प्रत्युत्तर देने के योग्य बन जाए । कितनी पगली हो मेरे शरीर पर हाथ फेर कर मुझ में सिहरन पैदा करना चाहती हो । यह सब बेकार है । अपने स्पर्श को और तीक्ष्ण बनाओ । कोड़ा लाओ, चाकू लाओ, उससे मेरी त्वचा को कुरेद कर कोई ऐसी नस तलाश करो, जिसे छूते ही मैं सिहर उठूं, जिससे मुझे कुछ यातना मिले और उस यातना को ही मैं काम-सुख का स्थानापन्न सुख समझ लूँ ।

" ठहरो, मैं कैसा उन्मत्त हो गया हूं कि वह काम जो मुझे तुम्हारे प्रति करना चाहिए, उसे करने के लिए तुम्हें प्रेरित कर रहा हू । लाओ अपने हाथ का कोड़ा मुझे दे दो । तुम्हें वेदना-सहिष्णु बना कर मैं तुम्हें मर्ष-काम के जिस शिखर पर पहुँचा चुका हूँ, उस शिखर तक की वेदना पहुँचाने योग्य अब मैं स्वयं नहीं रहा । इसलिए इस कोड़े द्वारा तुम्हें कष्ट पहुंचा कर मैं अपने आपको समझा लेना चाहता हूं कि मैंने तुम्हारे साथ बलात्कार कर लिया । इससे मैं अपने पुरुषत्व को यह तसल्ली दे सकूंगा कि मैं अब भी स्त्रियों के लिए कष्टकर हूँ ।"

प्रहार द्वारा वेदना पहुँचा कर यौन-सुख प्राप्त करना अब तक अवैध है । अवैध होने के कारण यह सुख सार्वजनिक नहीं हो पाया । हो सकता है कि व्यक्ति-स्वतंत्रता के हामी इसे वैध रूप देने के लिए समाज या शासन के समक्ष यह तर्क प्रस्तुत करें कि यौन-तुष्टि प्राप्त करना प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है । यदि दो यौन-सहयोगी चाकू से रक्त निकाल कर, यौन-तुष्टि प्राप्त करना चाहते हैं, तो कानून उनकी सुख-प्राप्ति का बाधक क्यों बने । यदि कानून बनाना भी ऐसे असामान्य-यौन-कर्मियों के हाथ में आ जाए

और वे नये विधि-विधाता इस प्रकार के वेदना-संवेदन को प्रत्येक व्यक्ति का निजी मामला समझ कर उसमें हस्तक्षेप करना बन्द कर दें तो वेदना-संवेदन के अन्तर्गत आने वाले वर्तमान सभी कृत्य अ-सामान्यता के दायरे से निकल कर सामान्य बन जाएंगे और असामान्य सुख के खोजी मानव, यौन-सुख प्राप्त करने के लिए अगले पड़ाव की ओर चल पड़ेंगे। उस स्थिति में वह अगला पड़ाव यह होगा कि व्यक्ति काम-तुष्टि के लिए यौन-सहयोगी की बोटियां चबाने लगेगा। अधिक आवेश में आने पर अपने प्रेम-पात्र को पहाड़ की चोटी पर से जाकर धक्का दे देगा और फिर इस प्रकार की खबरें पढ़ने पर किसी को रोमांच न होगा —

'आज अमुक नदी में एक नग्न युवक या युवती की लाश पायी गयी जिसके शरीर पर ....'

....

नग्नवाद

उत्तेजन-क्षमता के ऊँचे उठते हुए जिस स्तर ने स्पर्शानुभूति को वेदना-संवेदन तक पहुँचा दिया है, दृष्टि-संवेदन के क्षेत्र में उसी उच्च-स्तर ने मानव को धूप-स्नान-वादी बना दिया है।

धूप,स्नान-वाद `नग्नवाद` का नया नाम है, इस वाद के पीछे कामांग-प्रदर्शन की प्रवृत्ति काम करती है। यों तो प्रदर्शनेच्छा (एग्जिबिशनइज़्म) की गिनती श्रेष्ठक-भावना के अन्तर्गत होती है। विषय के अनुसार उसका आगे विवेचन होना है। इस समय उसकी चर्चा दृष्टि-संवेदना के अन्तर्गत की जा रही है।

दृष्टि-संवेदना का स्तर ऊँचा उठाने के जिम्मेदार नारी को अर्ध-नग्न बनाने वाले आधुनिक फैशन हैं, आवरणहीन माडलों को सामने बैठाकर गढ़ी गयी या चित्रित की गयी कलाकृतिया हैं और धूप-स्नान वादियों की प्रकाशित की हुई सचित्र पत्रिकाएं हैं। ये पत्रिकाएं पढ़े-लिखों और अनपढ़ों को एक जैसी समझ आती है। अपनी पत्रिकाओं को कानून की चोट से बचाने के लिए, और अपने कार्य का औचित्य प्रकट करने के लिए उनके प्रकाशकों को कोई बहाना तराशना पड़ता है। धूप-स्नान-वाद उन्हीं का गढ़ा हुआ नाम है।

धूप-स्नान के दो लाभ बताए जाते हैं। एक तो यह कि सूर्य-किरणों का पूरे शरीर से सम्पर्क रहने से स्वास्थ्य-लाभ होता है। दूसरा यह कि वस्त्र-प्रयोग ने शरीर को रहस्यमय

बना कर मानव के यौन-चिन्तन को जो अस्वस्थता प्रदान की है, वस्त्रों का बहिष्कार करके ही व्यक्ति अपने यौन-चिन्तन को स्वस्थ बना सकता है।

सूर्य-रश्मियों में जो जीवन-तत्त्व हैं, उनकी मौजूदगी से इंकार नहीं किया जा सकता, लेकिन उन किरणों से शरीर का ज़रा-सा भाग भी अछूता न रहे — यह कहना अतिवाद है और अतिवाद की ओर बढ़ता हुआ मानव, हो सकता है कल को मूँड़-मुँड़ा कर अपने कपाल तक किरणों का सीधा स्पर्श कराने लगे।

जहाँ तक दूसरे लाभ की बात है, यह मानना पड़ता है कि कपड़ों ने यौन-विशेषताओं को गुप्त बनाकर यौनांगों के प्रति उत्सुकता जागृत कर दी है और कपड़ों के अपेक्षाकृत संकोपन के कारण दोयम दर्जे की यौन-विशेषताओं के प्रति जिज्ञासा घटी है। अब पहले जैसी वह स्थिति नहीं रही कि पर्दे में से झलक कर किसी नारी की दिखाई पड़ने वाली ग्रीवा या टख़ना पुरुष को उद्दीप्त कर दे, बल्कि स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी है कि गर्दन से एक फुट नीचे और टख़ने से दो फुट ऊँचे तक का भाग दिखाई दे जाना पुरुष के लिए विशेष उद्दीपन का कारण नहीं रहा और यह भी कुछ हद तक ठीक-सा लगता है कि यदि पूरे समाज के नर-नारी निवर्सन हो जाएं तो नग्न-शरीर उत्तेजक नहीं रहेगा, लेकिन आने वाली इस समस्या की भी तो उपेक्षा नहीं की जा सकती कि इस प्रकार के वातावरण में पला व्यक्ति जब कभी उत्तेजित होना चाहेगा तो उसे क्या करना होगा ?

यह तो नहीं है, कि व्यक्ति अपनी उत्तेजन-शीलता नष्ट करना चाहता है। यदि सचमुच वह उत्तेजनाओं से छुटकारा पाना चाहता है तो उसके लिए परेशानी की कोई बात नहीं।

आज का औषधि-विज्ञान इतना समर्थ है कि वह व्यक्ति को कुछ ही क्षणों में हर प्रकार की उत्तेजना से मुक्ति दिला दे, लेकिन मानव अपने आपको उत्तेजना-रहित नहीं बनाना चाहता, बल्कि अपनी उत्तेजित होने की क्षमता रखते हुए व्यर्थ की उत्तेजना से बचना चाहता है ।

उत्तेजन-शीलता बनी रहने की कामना से आशय स्पष्ट है कि व्यक्ति में उत्तेजित होने की इच्छा रहती है, लेकिन वर्तमान अर्द्ध-नग्नता उसे उद्दीप्त करने में असमर्थ है । वह त्वक्-संवेदना के उस स्तर तक पहुँच चुका है, जहाँ नंगी पिंडलियाँ और टापलेस-लिबास से रक्त-संचार तीव्र नहीं होता । यौन-स्फीति के लिए अब उसे इनसे अधिक प्रबल प्रेरणाओं की जरूरत आन पड़ी है ।

सार्वजनिक रूप से निवर्सित होना अब तक अवैध है, इसलिए आज के अर्द्ध-नग्न समाज में रहने वाला मानव पूर्ण नग्नता के प्रचलित होने के सपने देख रहा है । मौजूदा स्थिति में वह अपनी आँखों की भूख का इलाज, धूप-स्नान-शिविरों में खोज रहा है । सोचना यह है कि इन शिविरों के अत्यधिक प्रचलन के बाद मानव की आगे बढ़ चुकी दृष्टि-संवेदन की समस्या का हल क्या होगा ? स्पष्ट है कि उस स्थिति में अपने आपको उत्तेजित करने के लिए उसे इससे आगे जाना होगा । आगे जाने का मार्ग अगर बन्द होगा तो उसे नया मार्ग बनाना होगा । कपड़े उतारने के बाद केंचुली उतारने की बारी आएगी और फिर निर्वसित शरीरों को सार्वजनिक रूप से उठाने-पटखने से ही उसे यौन-स्फीति होगी । पुराने युग के बिगड़े हुए राजे-नवाब जिस प्रकार मैथुन-समारोह अपनी आँखों के सामने आयोजित करके

अपने आपको उद्दीप्त किया करते थे, नये युग के औसत व्यक्ति को, अपने आपको उद्दीप्त करने के लिए इससे मिलते-जुलते तीव्र—उद्दीपकों की आवश्यकता महसूस होने लगेगी ।

....

प्रकरण - ५

यौन-सुख प्राप्ति के उपकरण

— यौन-सुख की परिभाषा
— यौनांगों की खोज
— प्राक्-क्रीड़ाओं का ध्येय

यौन-सुख की परिभाषा

यौन-सुख क्या है ?

गूँगे का गुड़ कह कर इस प्रश्न के उत्तर से सहज ही में पलायन किया जा सकता है, लेकिन जहाँ सभी गूँगे हों और सभी ने थोड़ा-बहुत गुड़ का रसास्वादन किया हो, वहाँ यौन-सुख की अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से एक-दूसरे तक पहुँचाना असम्भव नहीं है। यौन-सुख की अभिव्यक्ति इन शब्दों में व्यक्त की जा सकती है —

`प्रगाढ़ स्पर्श-सुख ही यौन सुख है।`

यौन प्रवृत्ति को प्रेरित करने वाली सभी प्रेरणाएं मानव को प्रगाढ़-स्पर्श के लिए प्रेरित करती हैं। भले ही यह स्पर्श दो भिन्न-लिंगियों में परस्पर हो या दो सम-लिंगियों में हो अथवा

दो भिन्न-योनि के जीवों में। एक ही व्यक्ति के दो विभिन्न अंगों के घर्षण द्वारा भी स्पर्श-प्रगाढ़ किया जा सकता है।

सहलाया जाना स्पर्श-सुख प्राप्त करने का एक सामान्य-सा माध्यम है। सहलाने और सहलाए जाने से मैथुन तक और मैथुन से कोड़े लगाने, लगवाने तक की सारी क्रियाएं स्पर्श की विभिन्न अवस्थाएं हैं।

एक व्यक्ति के लिए स्पर्श की जो अवस्था अतिरंजित समझी जाती है, दूसरे के लिए हो सकता है कि वह अवस्था साधारण हो। जो अवस्था जिसके लिए साधारण है, उसे अति-

रंजित बनाने की कामना उसे रहती है और उस क्षण तक बनी रहती है जिस क्षण तक वह त्वचा की उस आन्तरिक-सीमा को छू नहीं लेता, जहाँ से रक्त का बहाव निकटतम होता है।

शरीर के जिस भाग की त्वचा जितनी अधिक सूक्ष्म होती है, वह भाग उतना ही अधिक अनुभूति शील होता है। त्वचा का सूक्ष्म या स्थूल होना इस बात पर निर्भर है कि त्वचा का वह विशेष भाग, किसी आड़ वाले सुरक्षित स्थान पर है या वह बिना ओट के असुरक्षित स्थान पर है।

....

यौनांगों की खोज

पूरी औसत आयु का लगभग आठवाँ भाग व्यतीत करने के बाद जीव इस योग्य हो जाता है कि वह दैनिक-क्रियाओं में व्यय करने के उपरान्त कुछ अतिरिक्त-शक्ति बचा सके। मानव की वह अवस्था किशोरावस्था से पूर्व की उम्र होती है। उस अवस्था से किशोरावस्था तक पहुँचने की दो-तीन वर्ष की अवधि बालक या बालिका के लिए असह्य होती है। अतिरिक्त ऊर्जा का दबाव उसके आन्तरिक-संस्थान को तब तक सहन करना होता है; जब तक कि वह उस ऊर्जा को विक्षेप करने की किसी विधि से अवगत न हो जाए। उसकी पूरी काया मानो एक पका हुआ ऐसा फोड़ा बनी होती है जो फूटने का कोई बहाना तलाश कर रहा होता है। अतिरिक्त-शक्ति धारण किए हुए वर्षों के अपार क्षणों में कोई एक क्षण ऐसा आ जाता है,जब शरीर का सर्वेक्षण करते हुए स्पर्श द्वारा बालक या बालिका को यह ज्ञात हो जाता है कि उसके शरीर का कौन-सा भाग सर्वाधिक संवेदनशील है। कोई ऐसा भाग जिसके छूते ही सामान्य-गति से प्रवाहित होने वाले रक्त में बाढ़-सी आ जाए, जिसके फलस्वरूप उसका शरीर गर्मा जाए। गर्मा जाने के रूप में उसकी अतिरिक्त-ऊर्जा का हनन हो जाए। वह संवेदनशील अंग वही हो सकता है जो ओट में हो, यानी या तो वह अंग अभ्यंतर में स्थित हो या उस पर त्वचा की पर्त मढ़ी हुई हो। नर का वह अंग शिश्न-मुंड है और मादा का वह अंग योनि का अभ्यंतर भाग है।

नर-मादा के ये दोनों यौनांग, सृष्टि के प्रथम चरण में, जब कपड़ों का प्रयोग शुरू न हुआ होगा, सम्भवत: इतने अधिक संवेदन-शील न रहे होंगे, जितने अब हैं। लेकिन अपनी ओट वाली सुरक्षित-स्थिति के कारण शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा अधिक अनुभूतिशील अवश्य रहे होंगे।

....

प्राक्-क्रीड़ाओं का ध्येय

शिश्न तथा योनि के रूप में अनुभूतिशील अंगों की खोज, स्पर्श-सुख को प्रगाढ़ बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि बन गयी। एक विशिष्ट-क्रिया के लिए अनन्त वर्षों से निरन्तर प्रयुक्त होते रहने के कारण वे अंग शरीर की स्पर्शानुभूति के प्रतिनिधि समझे जाने लगे। उन संवेदनशील अंगों को संवेदन-विशेषज्ञ बनाने के लिए जीव ने शारीरिक चेष्टाओं के रूप में उनका परीक्षण किया। जो परीक्षित-क्रियाएं उन यौनांगों में रक्त की सघनता अधिक बढ़ाने में सफल हुई, वे प्राक्-क्रीड़ाएं कही जाने लगीं। प्राक्-क्रीड़ाओं की पुनरावृत्तियों ने तीव्र अनुभूति को और भी तीखा बना दिया। वह यों कि सुरक्षित स्थान पर स्थित होने के कारण यौनांगों पर त्वचा की पर्त पहले ही अत्यन्त सूक्ष्म होती है। जब उस अंग में रक्त की सघनता बढ़ती है तो उस अंग की त्वचा में खिचाव पैदा होता है। फलतः सूक्ष्म-त्वचा सूक्ष्मतम बन जाती है। उस नाममात्र की त्वचा की आड़ में एक के अंतरंग से दूसरे के अंतरंग में कोई व्यवधान नहीं रहता। अंतरंग का अंतरंग द्वारा सहलाया जाना त्वक्-अनुभूति को उच्चतम शिखर पर पहुँचा देता है और वह तीक्ष्ण स्पर्श-बोध जीव को बारम्बार प्राक् क्रीड़ाओं के लिए बाध्य करता है।

....

प्रकरण — ६

यौन-सुख का उपसंहार

— उत्तेजना-निवृत्ति का महत्त्व

— धारण-सुख

— नारी का धारण-सुख

उत्तेजना-निवृत्ति का महत्व

मानव यौनोत्तजना चाहता है। वह उत्तेजना की अवस्था को दीर्घकालिक बनाने की कामना भी करता है। मात्र इसलिए नहीं कि उत्तेजना में सुखानुभूति है, बल्कि इसलिए भी कि उत्तेजना के उत्कर्ष तक पहुँचने के बाद,अपकर्ष तक पहुँचने से होनेवाले हल्केपन की अनुभूति तक,बिना उत्तेजना की सीढ़ी लाँघे पहुँचा नहीं जा सकता। जहाँ तक उत्तेजनाकाल का सवाल होता है, स्वयं वह काल अपने उत्कर्षकाल में इतना सुखद नहीं होता, जितनी सुखद बाद में उसकी स्मृति होती है। आवेश के क्षणों में न तो व्यक्ति को अपनी सुध होती है, और न अपने यौन-पूरक का भरपूर अवलोकन करने की। जब आवेश उतर जाता है, उस समय आवेशावस्था की क्रियाशीलता याद आती है। जो उत्तेजना के प्रेरक बने थे, उनके बारे में भरपूर चिन्तन करने का अवसर मिलता है। उन क्षणों की सुखद याद में खोकर व्यक्ति चाहता है कि क्या ही अच्छा होता, यदि तनाव के वे विगत क्षण और अधिक लम्बे होते। उत्तेजना की वह अवस्था शाश्वत हो जाती।

उत्तेजना-निवृत्ति के बाद इस प्रकार की कामना करना कुछ अजीब नहीं है। अजीब स्थिति तब आ सकती है जब वह कामना साकार हो जाए। यानी उत्तेजना स्थायी हो जाए। जब उत्तेजित-अवस्था और उत्तेजन-हीनता की अवस्था का भेद

प्रकट करने वाला कोई व्यवधान न रहे। कितनी बड़ी मुसीबत बन जाती आवेग की वह एकरूपता। यदि सचमुच ऐसा हो जाता तो चिरन्तन तनाव से घबड़ा कर, उससे मुक्ति पाने के लिए जीव अपने उत्तेजित-शरीर को ही नष्ट कर डालता। लेकिन शरीर नष्ट करने की नौबत नहीं आ सकती क्योंकि उत्तेजना चिरन्तन नहीं बन सकती। वह घटती-बढ़ती चढ़ती-उतरती रहती है। जब वह उत्कर्ष पर होती है तो धारक को उसे अपकर्ष तक ले जाने की कामना होती है। जब घटती या उतरती है, तब धारक के मन पर तनाव के क्षणों की सुखद याद छोड़ जाती है, उस याद का सहारा लेकर व्यक्ति पुनः यौन-उत्तेजना से ओत-प्रोत होना चाहता है।

प्राक्क्रीड़ाओं के माध्यम से व्यक्ति उत्तेजना को उच्चतम शिखर पर ले जाना चाहता है। वह इसलिए कि उत्तेजना जितने ऊँचे शिखर तक जाती है, क्षरण के समय हल्केपन का आभास भी उतना ही अधिक होता है। धीरे-धीरे एक-एक पग करके सीढ़ियाँ चढ़ने के बाद, सुरक्षा के आश्वासन के साथ एकदम फिसल पड़ने का सुख बच्चे में भी रोचक सिहरन पैदा कर देता है। यदि उस जैसे सुख की पुनरावृत्ति वयस्क भी करता है तो कुछ आश्चर्य की बात नहीं।

....

क्षरण-सुख

उत्तेजना की अवस्था से सामान्यावस्था तक एकदम नहीं आया जा सकता। उन दोनों अवस्थाओं के बीच एक तीसरी अवस्था भी होती है। आमतौर पर वह तीसरी अवस्था क्षरणावस्था समझी जाती है।

`क्षरण` से साधारणत: आशय वीर्य-स्खलन लिया जाता है। यह शब्द वीर्य से सम्बन्धित होने के कारण पुरुष के यौन-सुख का प्रतीक बन चुका है। लेकिन वास्तविकता यह है कि क्षरित पुरुष भी होता है, स्त्री भी होती है ; लेकिन वह क्षरण वीर्य का नहीं होता, शक्ति का होता है।

पुरुष को वीर्य-स्खलन के समय जिस शक्ति-हीनता का आभास होता है, वह शक्ति वास्तव में वीर्य के रूप में नहीं निकलती, बल्कि उत्तेजना-काल में क्षरित हो चुकी होती है। वीर्य एक संकेत है, जिसके स्खलित होते ही विसर्जक को शक्ति-हीनता का आभास होता है।

`संकेत` का महत्व समझने के लिए हम एक ऐसे पथिक की मिसाल लेते हैं, जिसे महीनों लम्बी यात्रा करनी है। राह में कोई नगर नहीं, कोई पड़ाव नहीं। वह काल्पनिक-पड़ाव निश्चित कर लेता है। सोचता है, साँझ ढलते ही जहाँ समतल भूमि या जलाशय के निकट जगह देखूँगा, वहाँ पड़ाव कर लूँगा।

उत्तेजित व्यक्ति मानो एक यात्रा पूरी कर रहा है। सामान्यावस्था से आवेश की अवस्था तक पहुँचने के बाद उसे पुन: सामान्यावस्था तक आना है। उसे अपनी अंतहीन यात्रा का कोई पड़ाव निश्चित् करना होता है, रुकने के लिए उसे किसी ऐसे काल्पनिक पड़ाव की तलाश होती है, जिसे देखते ही वह लम्बे डग भरता हुआ उस तक पहुँच जाए और वहाँ पहुँचते ही वह निढाल होकर पड़ जाए। यात्रा की सारी थकान उतार डाले, फिर ताजा दम होकर पुन: आगे की यात्रा करने के योग्य बन सके।

खोज निष्फल नहीं जाती। पड़ाव के खोजी मानव को तनाव के कारण तने हुए शारीरिक-संस्थान को ढीला छोड़ देने का एक संकेत मिल जाता है, यह संकेत वह काल बनता है जब उसकी पौरुष-ग्रंथियों का स्त्रवन कुछ तेज़ होता है। उस स्रवन को यौन-क्रिया से छुट्टी पाने की घंटी के रूप में स्वीकार करके ; वह शिथिल होकर पड़ जाता है। शिथिलावस्था मानव की सामान्यावस्था नहीं है। उत्तेजित-अवस्था से सामान्यावस्था तक पहुँचने के लिए उसे तीसरी अवस्था तक आना पड़ता है, जिससे वह उत्तेजित-अवस्था में व्यय की हुई शक्ति की क्षति-पूर्ति कर सकें। वह तीसरी अवस्था तन्द्रावस्था होती है। तन्द्रावस्था घनी थकावट की वह स्थिति है जो व्यक्ति को तब तक के लिए आराम करते रहने को बाध्य करती है, जब तक कि वह पुन: सामान्यावस्था तक पहुँच नहीं जाता।

....

नारी का क्षरण-सुख

यौन-समागम के दौरान घर्षण क्रिया में नारी को जो आनन्द आता है, उसके लिए वह आनन्द अलौकिक है। पुरुष के यौनानन्द का नारी आस्वादन नहीं कर सकती।

वीर्य-स्खलन के समय पुरुष को जो सुखानुभूति होती है, वह अनुभूति उसके लिए अलौकिक है, नारी के यौन-सुख का अनुभव पुरुष नहीं कर सकता।

अपने-अपने सुख की अनुभूति को वे दोनों एक-दूसरे के प्रति स्थानान्तरित नहीं कर सकते, लेकिन अपनी-अपनी सुखद क्रिया की पुनरावृत्ति के लिए वे दोनों बेताब रहते हैं।

नारी और पुरुष, दोनों के समागम के दौरान एक क्षण ऐसा आता है जब वे रति से विरत हो जाते हैं। पुरुष का वह क्षण वीर्य-स्खलन के उपरान्त का होता है।

नारी को भी मैथुन के दौरान विरक्ति की अनुभूति होती है, लेकिन रति को विरति से अलग दर्शाने के लिए उसके यौनांग से प्रकटत: निष्कासन नहीं दिखाई देता। थोड़ी देर पहले सुखद लगने वाली घर्षणि-क्रिया, अचानक ही असुखकर क्यों लगने लगी? सुखद और असुखकर अवस्था के दरम्यान तीसरी कौन-सी अवस्था आयी, जिसने सुहानी मैथुन-क्रिया को फंफट-सा बना दिया? — इन प्रश्नों का उत्तर अभी अपेक्षित है।

इन प्रश्नों का उत्तर खोजने वाला व्यक्ति आम तौर पर पुरुष होता है। नारी की यौन-क्रियाओं का अर्थ

लगाने के लिए पुरुष अपनी अनुभूतियों को पैमाना बनाता है। उसकी अपनी अनुभूति के अनुसार अत्यन्त-सुख की अवस्था वीर्य-क्षरण की अवस्था है। क्षरण के तुरन्त बाद विरति की अवस्था शुरू हो जाती है। अतः उसकी धारणा यह हो जाती है कि अत्यन्त-सुख 'वीर्य' नामी द्रव्य के विसर्जन में है। अपनी अनुभूति के आधार पर वह इस निष्कर्ष तक पहुँचता है कि नारी को भी अतीव सुख की अनुभूति तब मिल सकती है, जब वह कोई द्रव्य क्षरित करती हो। अन्यथा तन्द्रावस्था आ नहीं सकती।

अब तक किसी ने निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा कि नारी वीर्य जैसा कोई द्रव्य क्षरित करती है या नहीं। कभी-कभी कुछ स्त्रियों को नारी जाति का प्रतिनिधि समझ कर, उससे जिरह करके यह जानने का प्रयत्न भी किया जाता है कि आनन्दातिरेक की अवस्था में उनका कुछ स्रवन होता है कि नहीं। यौन-शास्त्रियों के प्रश्नों की बौछार के समय कभी नारी 'हाँ' कह देती है और कभी 'न'।

परीक्षण-पद्धति से हटकर कल्पना द्वारा इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयत्न करने में हर्ज नहीं है। इसके लिए जिज्ञासु को अपने आपसे सर्वप्रथम यह पूछना होगा — 'क्या यह ज़रूरी है कि उत्तेजित से उत्तेजना-रहित होने के लिए द्रव्य का प्रकटतः निष्कासन हो ही? क्या यह नहीं हो सकता कि स्खलन मूर्त-पदार्थ के रूप में न हो, बल्कि अदृश्य-तत्त्व के रूप में हो?

हम कोई नाटक देखने जाते हैं, इसलिए कि उसे देखने में हमें एक प्रकार का आनन्द मिलता है। आनन्द तब मिलता है जब कथा-कार, निर्देशक, अभिनेता और पार्श्व-संगीत-संयोजक आदि की टीम हमारे सामान्य-भावों को आवेग बनाने में सफल हो जाती है।

आवेश-उष्णता के उस काल में वह हमारा कलेजा मुँह को ले आती है, लेकिन मुँह से बाहर नहीं निकलने देती । एक निश्चित् समय तक हमें भावावेग से विह्वल करके, संवेगों को सामान्य सतह पर लाकर हमें वह छुट्टी दे देती है ।

कभी-कभी हमें नाटक से आनन्द नहीं भी मिलता । आनन्द उस हालत में नहीं मिलता, जब उपर्युक्त टीम हमारे भावों को शिखर तक नहीं पहुँचा पाती । यदि पहुँचा पाती है तो उन्हें सामान्य-सतह तक नहीं ला पाती । यदि वह हमें शिखर तक पहुँचा कर पुन: सामान्य-सतह तक न ला सके — जैसे कि आमतौर पर दुखांत नाटकों में होता है, तो उस टीम-का प्रस्तुतीकरण हमें उत्तेजित-अवस्था में ही घर लौटने के लिए विवश करता है । हमें तन्द्रित नहीं होने देता ।

आवेश का शिखर तक पहुँचना उत्तेजनावस्था है । वह अवस्था हमारी कुछ ग्रन्थियों के तीव्र स्रवन का परिणाम है । `नाटक में रस आया था नहीं,` वैज्ञानिक भाषा में इस वाक्य का अर्थ यह है कि नाटक कुछ विशेष-ग्रन्थियों का स्रवन तीव्र करने में सफल हुआ या नहीं ।

सिर्फ दृश्य-काव्य ही नहीं, श्रव्य-काव्य का सरस या रस-हीन होना भी हमारे ग्रन्थि-रसों पर निर्भर है । रहस्य भरे रोमांचक उपन्यासों के पाठक के हाथ से उसका प्रिय उपन्यास यदि उस क्षण उससे छीन लिया जाए, जिस क्षण वह घात-प्रतिघात की चरम-सीमा पर पहुँचाया जा चुका हो, तो उस समय उसकी शारीरिक स्थिति लगभग उस मैथुनरत व्यक्ति की सी हो जाएगी, जिसका वीर्य स्खलित होते-होते रह गया हो । यदि उस पाठक को उपसंहार तक पहुँच जाने दिया जाए,तो वह उसे पढ़कर यों शांत हो जाएगा

जैसे वह स्खलित हो गया हो । उसके शरीर से कोई मूर्त-पदार्थ उस समय नहीं निकलता, लेकिन कुछ-न-कुछ अवश्य क्षारित होता है । वह क्षरण ऊर्जा का होता है ।

दृश्य-काव्य या श्रव्य-काव्य के देखने, पढ़ने या सुनने से होने वाली हल्के-दर्जे की उत्तेजना और 'यौन' नामक प्रबल उत्तेजना में बहुत फर्क है । इसलिए उन दोनों प्रकार की उत्तेजना के उतरने के बाद की निवृत्ति-अवस्था में भी फर्क होता है । यौनोत्तेजना चूंकि उच्चतम शिखर तक पहुँच सकती है और उस उत्तेजना में मानसिक-तनाव और शारीरिक-संघर्ष, दोनों रूपों में शक्ति व्यय करनी होती है, इसलिए इस निवृत्ति के बाद की अवस्था की तन्द्रा भी अत्यन्त घनी होती है । जिन उत्तेजनाओं में केवल मानसिक तनाव द्वारा मामूली शक्ति क्षारित होती है, उनके उतार के बाद घनी तन्द्रा नहीं आती । धारक को मात्र शांति का आभास होता है ।

किसी भी रूप में शक्ति क्षारित करने के बाद शरीर को आराम की तलब होती है । बालक रोते-रोते सो जाता है, रोने में व्यय हुई शक्ति की क्षतिपूर्ति के लिए । दारुण-पीड़ा या घाव के दर्द के उपचार के बाद रोगी को गहरी नींद आती है, इसका कारण भी शरीर की वही क्षतिपूर्ति की आवश्यकता है ।

अन्य क्षेत्रों के ये सब उदाहरण यहाँ देने से आशय एक तो यह प्रकट करना है कि शक्ति का विसर्जन चाहे जिस रूप में हो, उसके बाद ज्यों ही राहत मिलती है, पलकें बन्द होने लगती हैं । दूसरे यह कि उत्तेजित से उत्तेजना-रहित होने के लिए आवश्यक नहीं कि शरीर से किसी मूर्त-पदार्थ का निष्कासन हो ही । बिना मूर्त पदार्थ के निकले भी उत्तेजना के बाद वाली विरति की अवस्था आ सकती है । यौनोत्तेजना काल में शक्ति का विसर्जन हो चुकने के

बाद एक स्थिति ऐसी आती है, जब व्यक्ति निढाल होना चाहता है। निढाल होने के लिए वह किसी भी संकेत को अपनी यात्रा का पड़ाव मान कर अपने आपको ढीला छोड़ देना चाहता है। पुरुष ने वीर्य-स्खलन को मैथुन-निवृत्ति की घोषणा मान लिया है। नारी भी तो उत्तेजना के रूप में अपनी शक्ति का ह्रास करती है। वह भी किसी संकेत को अपने लिए मैथुन-निवृत्ति की घोषणा समझ सकती है। नारी का वह संकेत जानने के लिए हमें नर और नारी की शारीरिक रचना का भेद समझना चाहिए।

नर और नारी, दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। नर की रचना में प्रवेशक होने का और नारी में ग्रहणाक होने का भेद स्पष्ट होता है। विसर्जन के क्षेत्र में वह भेद यदि इस रूप में समझ लिया जाए कि पुरुष दायक है और नारी प्रापक, तो ये दोनों एक-दूसरे के पूरक गुण, दोनों को यौन-संतुष्टि दे सकते हैं।

समागम के दौरान नर और नारी दोनों मानसिक और शारीरिक क्रिया-शीलता के रूप में शक्ति का क्षय करते हैं। अपनी क्षरण-क्षमता के अनुसार शक्ति विसर्जित करने के उपरांत दोनों ही मैथुन-समापन के किसी संकेत की प्रतीक्षा में होते हैं। यदि वे दोनों एक-सा बल क्षरित कर चुके होते हैं तो उनमें किसी एक का निवृत्ति-संकेत दूसरे के लिए भी निवृत्ति-संकेत का पर्याय बन सकता है। यदि पुरुष वीर्य-विसर्जन की क्रिया को अपनी उत्तेजना-शांति का संकेत समझ सकता है, तो नारी उस वीर्य के ग्रहण करने की क्रिया को अपने लिए निवृत्ति का संकेत समझ सकती है। पुरुष जो विश्रांति 'निष्कासन' मे पाता

है, नारी वह विश्रांति `प्राप्ति` में पा सकती है ।

यदि उन दोनों में से एक कीअतिरिक्त-शक्ति दूसरे की अतिरिक्त-शक्ति के पूर्णतः निचुड़ने से पहले चुक जाती है और दूसरा समापन का संकेत समझने की अवस्था में नहीं होता तो दूसरे की स्थिति विषम बन जाती है ।

यदि पहले निचुड़ जाने वाला व्यक्ति पुरुष है तो उसकी यौन-सहयोगिनी स्त्री की अतिरिक्त बची शक्ति का विक्षेप झल्लाहट, उन्माद, कलह आदि के रूप में होने लगता है ।यदि पहले निचुड़ जाने वाली इकाई नारी है तो बाद में पुरुष का संघर्ष-रत रहना नारी के लिए असह्य होता है ।तब पुरुष का बलात् मैथुन-क्रिया .. जारी रखना उसे मैथुन से विमुख बना देता है ।

यदि उन दोनों का अतिरिक्त-ऊर्जा-विसर्जन का काल `लगभग` एक-सा होता है तो वे दोनों एक-दूसरे को तृप्त करके विश्रांति की गोद में पहुँच जाते हैं ।

ऊपर दिये गये विवरण से यह आशय नहीं निकालना चाहिए कि मैथुन-काल में स्त्री कोई द्रव्य क्षरित करती ही नहीं । उसके यौनि-मार्ग का गीला होना यह प्रकट करता है कि उसकी ग्रन्थियां कुछ रस छोड़ती हैं । इस प्रकार के साधारण स्रवन वीर्य-विसर्जन से पूर्व पुरुषांग से भी होते हैं । ये स्रवन मैथुन के लिए प्रवृत्ति के द्योतक होते हैं, निवृत्ति के नहीं ।

....

प्रकरण — ७

अतिवाद और यौन-प्रवृत्ति

— दो विरोधी मत
— ब्रह्मचर्य बनाम वीर्य-रक्षा-अभियान
— वीर्य का महत्त्व
— चिन्तक की विवशता
— वीर्य-नाश-अभियान

दो विरोधी मत

एक मत ....

'वीर्य अमूल्य निधि है। शक्ति का सार रूप है। वीर्य का निष्कासन मानो अकाल-मृत्यु का आह्वाहन करना है।'

दूसरा मत ....

'यौन-प्रवृत्ति एक सहज-प्रवृत्ति है। वीर्य-निष्कासन एक सहज-सामान्य प्रक्रिया है। इस निष्कासन-क्रिया में बाधा डालना यौन-विकृतियों को जन्म देना है।'

पहला मत धर्माचार्यों और ब्रह्मचारियों का है और दूसरा आधुनिक-यौन-शास्त्रियों का। साधारण आदमी इन दोनों में से किसी एक को अपना मत मान लेता है। यदि उसकी पहले मत पर श्रद्धा है तो वह कंजूस की तरह वीर्य-संचय में ही अपना कल्याण समझता है। जिस मुसीबत के वक्त के लिए वह संचय किया जाता है, उसके जीवन-काल में संकट का वह क्षण कभी नहीं आता।

यदि वह दूसरा मत शिरोधार्य करता है तो वह मल-मूत्र-विसर्जन की क्रिया तथा उदान-अपान-वायु के निष्कासन मौका-महल देख कर करता है, लेकिन वीर्य-विसर्जन के लिए वह किसी मौका या ओट की जगह तलाश करने की ज़रूरत नहीं समझता।

यह सब देख कर जिज्ञासु सोच में पड़ जाता है कि क्या सहज-प्रवृत्तियों की सूची में मात्र एक नाम 'यौन-प्रवृत्ति' का ही रह गया है?

....

ब्रह्मचर्य बनाम वीर्य-रक्षा-अभियान

ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ है — ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए साधना। लेकिन इसका यह शाब्दिक-अर्थ व्यवहृत नहीं होता। ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी पुस्तकों में आठ प्रकार[१] के मैथुनों से बचने की स्थिति का नाम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का यह व्यवहार में लाया जाने वाला अर्थ भी पुस्तकों तक ही सीमित है। पुस्तकों से बाहर की दुनियां में ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ लिया जाता है — विवाह न करना। इस अर्थ के अधिक प्रचलन का कारण यह है कि उचटती निगाह से किसी व्यक्ति की जाँच कर सकना कठिन होता है कि वह मैथुन से (या वीर्य-स्खलन से) बच रहा है कि नहीं। इसलिए सुविधानुसार उसे ब्रह्मचारी मान लिया जाता है जिसने विवाह न किया हो। उस तथाकथित-ब्रह्मचारी को श्रद्धालु-समाज वह आदर भी दे देता है जो उसके धर्म-ग्रंथों के अनुसार जितेन्द्रिय-व्यक्ति को मिलना चाहिए।

ब्रह्मचर्य-सम्वन्धी नियमों को प्रतिष्ठित करने और काम-भावना को निन्दित वनाने में स्वास्थ्य-सम्बन्धी-पुस्तकों और धर्म-ग्रंथों का भी बहुत बड़ा हाथ है। धर्म-ग्रंथों में काम की भर्त्सना पढ़ कर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वीते ज़माने में ऐसी

---

१. स्मरणं कीर्तनं केलि: प्रेक्षणं-गुह्य भाषणम्। संकल्पोऽध्यवसाय क्रिया निष्पत्तिखे च ।।
एतन्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिण:। विपरीतं ब्रह्मचर्यम् एतद् एवाष्ट लक्षणम् ।।
अर्थ — स्त्रियों को स्मरण करना, उनका नाम-कीर्तन करना, →

स्थिति आई होगी जब यौन-उच्छृंखलता हद से बढ़ी होगी । उस काल के यौन-चिंतन में रमे व्यक्तियों ने दूसरी सामाजिक जिम्मेवारियों से आंखें मूँद ली होंगी । उस उच्छृंखलता को नियंत्रित करने की आवश्यकता तत्कालीन चिंतकों ने महसूस की होगी । राग-रंग में रत व्यक्तियों को उन रंगीनियों से विरत करने के लिए, उन्होंने वीर्य-रक्षा का महत्त्व बढ़ा कर बताया होगा और वीर्यनाश की हानियों का हद से ज़्यादा बखान किया होगा । उस काल की लिखी स्वास्थ्य तथा धर्म-संहिताओं का प्रभाव यह हुआ कि अपने ग्रंथों की आज्ञा मान कर कोई तो जितेन्द्रिय बनने के लिए तपस्या में लीन हो गया, कोई स्वेच्छा से नपुंसक बन गया और किसी ने शरीर को अकाम्य बनाने के लिए नहाना-धोना बन्द करके मैल को अपना अन्यतम शृंगार-प्रसाधन मान लिया ।

धर्म-संहिताओं के रचेता पुरुष थे और नारी पुरुष की कमजोरी थी इसलिए अपने अनुगामियों को नारी से दूर रखने के लिए उन्होंने 'नारी निन्दा' शीर्षक से एक नया अभियान शुरु किया । फलत: नर की खान नारी 'नरक की खान' समझी जाने लगी । अपने कथन को प्रभावशाली बनाने के लिए संहिताकारों ने ऐसे अविवाहित पुरुषों के नाम खोजे जिन्होंने लम्बी आयु पायी थी, या जो सर्दी-गर्मी सहन करने के मामले में असाधारण रूप से सहिष्णु समझे गये थे, या जिनके अतीव शक्तिशाली होने के बारे में दन्तकथाएं प्रचलित थीं । उनके आयुष्मान, सहिष्णु और शक्तिशाली होने का वास्तविक कारण चाहे और कुछ भी रहा हो, ब्रह्मचर्य के

→ उनसे क्रीड़ा करना, उन्हें देखना, उनसे गुप्त बातचीत करना, उनसे कुविचार का संकल्प करना, उनसे कुविचार का पक्का इरादा कर लेना, उनसे मैथुन कर लेना, यह आठ प्रकार का मैथुन हुआ करता है । इसी से विपरीत आठ प्रकार का ब्रह्मचर्य हुआ करता है ।

प्रतिष्ठाताओं ने प्रकट यही किया कि वे चूंकि अमोघ-वीर्यवान थे इसलिए असाधारण क्षमता रखते थे। इतिहास के वे वीर विवाहित या कामी पुरुष, जो उन अविवाहितों से संख्या में अधिक थे, ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी प्रवचनों और लेखों में उन्हें स्थान नहीं मिला।

शताब्दियों से जारी रहने वाले इस प्रचार-अभियान का फल यह हुआ कि ब्रह्मचर्य का उपदेश देना फ़ैशन बन गया। सार्वजनिक-जीवन व्यतीत करने वाले हर व्यक्ति को अपना मान बनाए रखने के लिए अपने आपको वीर्य-रक्षक घोषित करना आवश्यक जान पड़ा। जो व्यक्ति व्यावहारिक जीवन में संयम का नाम भी न जानता था, अपनी मान रक्षा के लिए उसे भी ब्रह्मचर्य का उपदेश देना पड़ता। ऐसे अनाधिकारी व्यक्तियों के प्रयत्नों से ब्रह्मचर्य,— जो स्वेच्छा से स्वीकार किए जाने वाले `संयम` का नाम था — दुराग्रह के रूप में मान पाने लगा।

ब्रह्मचर्य के लिए `स्वेच्छा से स्वीकार किया गया` वाक्यांश कहना भी मुनासिव नहीं लगता। वह इसलिए कि ब्रह्मचर्य के साथ `स्वीकार करना` जैसी सकर्मक क्रिया का लगाना ही असंगत है। इस शब्द के साथ `होना` जैसा भाव प्रकट करने वाली कोई अकर्मक-क्रिया ही लग सकती है।

एक व्यक्ति साधना करता है। वह साधना ब्रह्म की भी हो सकती है, कला की या ज्ञान की भी। व्यक्ति जब अपनी मन-पसन्द साधना में रत होता है तो उसे अपनी अतिरिक्त-शक्ति व्यय करने का मानो एक मार्ग मिल जाता है। उस मार्ग द्वारा शक्ति-व्यय करने वाले के पास इतनी अतिरिक्त-शक्ति बचती ही नहीं कि वह यौनोत्तेजना में व्यय कर सके। वातावरण में फैले -अनन्त प्रेरकों की प्रेरणा वश-या यौन-सम्बन्धी ग्रंथियों के अस्तित्व के कारण, उसे कभी-

कभी यौन-उकसाहट तो होती है, लेकिन आमतौर पर वह विना वीर्य-रक्षा का उपदेश सुने जितेन्द्रिय रहता है। ब्रह्मचर्य उसके शरीर-धर्म की आवश्यकता होती है, अत: वह ब्रह्मचर्य धारण करता नहीं अपितु उससे ब्रह्मचर्य धारित हो जाता है। लेकिन जिस व्यक्ति के सामने शक्ति-विसर्जन के लिए साधना नामी कोई मार्ग न हो, लेकिन आहार द्वारा शक्ति-संचय होने के माध्यम अनेक हों तो उपदेशों के वल पर उसे संयमी वनाना ब्रह्मचर्य के अर्थ को विकृत वना देना है। ब्रह्मचर्य उसके लिए साधन है, जिसके समक्ष कोई अन्य साध्य है। यदि और कोई साध्य न हो तो ब्रह्मचर्य ही साध्य वन जाता है और अमोघ-वीर्य का पालना, उस साध्य तक पहुँचने की साधना वन जाती है। वह साधना साधक को 'चैम्पियनशिप' जैसा कोई सम्मान भले ही दे दे, लेकिन उसके अपने जीवन के लिए या समाज के लिए उस ब्रह्मचर्य का कोई उपयोग नहीं होता। अपवाद के रूप में यदि इस प्रकार का ब्रह्मचर्य कोई धारण कर लेता है तो चिंतक के लिए चिंता की कुछ वात नहीं होती। रंगविरंगे समाज में जहां महीनों व्यवधानरहित उपवास करने वाले, लगातार हफ्तों साईकिल चलाने वाले, लम्वी दौड़ जीतने वाले तथा अनथक-तैराकी का रेकार्ड तोड़ने वाले व्यक्ति हैं, वहां किसी व्यक्ति का अमोघ-वीर्यवान वनना उस रंग-विरंगे समाज में एक और रंग की वृद्धि ही करता है। अत: वह चिंता का कारण नहीं होता। ब्रह्मचर्य चिंतनीय उस समय वनता है जव देश-काल, वातावरण और व्यक्ति के शरीर-धर्म की आवश्यकता को समझे विना, पुंसत्व से पूर्ण पुरुषों तथा स्त्रियों को मन मारने के लिए विवश करता है। ऐसा अनाधिकारी व्यक्ति धर्म-ग्रंथों के उपदेशों पर श्रद्धा रख कर ब्रह्मचर्य का वाना यदि पहन भी लेता है तो उसे अपने शरीर से अन्याय करना पड़ता है या उसे वीर्य-विसर्जन के

लिए ढके-छुपे रास्ते तलाश करने पड़ते हैं। इससे अनाचार को वढ़ावा मिलता है।

वातावरण की उपेक्षा करके यदि कोई व्यक्ति व्रह्मचर्य-सम्वन्धी उपदेश देता है, तो वह व्यक्ति संतुलित नहीं समझा जा सकता। आज के व्यक्ति का व्रह्मचारी रहना या न रहना वहुत कुछ वातावरण पर निर्भर होता है। समाज में, जहां यौन-प्रवृत्ति को प्रेरित करने वाली अनन्त-प्रेरक-शक्तियाँ अनेक रूपों में दिखाई पड़ती हों, जो जाने या अजाने में तनाव का कारण वन सकती हों, वहाँ व्यक्ति कहाँ तक देखे को अनदेखा कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति सामाजिक-वातावरण से वचने के लिए जंगल में जाकर वृक्षों, पहाड़ों और वनचरों का पड़ोसी वनना चाहे तो भी वह पूरा वन-चर नहीं वन सकता। वृहत्-समाज के साथ उसकी आवश्यकता कहीं-न-कहीं अवश्य जुड़ी रहती है। वह स्वयं सामाजिक जीवन में प्रवेश करे या समाज उसके जीवन में प्रवेश करे, दोनों दशाओं में उसकी यौन-लालसा अधिक उग्र रूप धारण करेगी। एक अंधेरे कमरे के वासी को धूप में, अचानक भरी दुपहरी में, आना पड़ जाए तो उसकी आँखें चुँधिया जाती हैं, वैसे ही `चकाचौंध` जैसे कष्ट की अनुभूति विषम-लिंगियों से भरे समाज में एकाएक प्रवेश करने से एकांतवासी को हो सकती है।

आज के युग में पुराना युग लाने का प्रयत्न करने वाले लोग भी हैं। वे नयी पीढ़ी को व्रह्मचारी वनाने के लिए नगर से दूर निर्जन-प्रदेशों में शिक्षालय वनाकर समझते हैं कि उन्होंने नयी-पीढ़ी के वीर्य की रक्षा का प्रवन्ध कर लिया है। वे भ्रम में हैं। जिस प्रकार अर्से से खिड़कियां-दरवाजे वन्द किये गये कमरे को खोलने पर भी धूल की एक पतली-सी चादर अनिवार्यतः कमरे की हर वस्तु पर

पड़ जाती है, वैसे ही समाज में पायी जाने वाली यौन-प्रेरणाएं किसी-न-किसी दराज़ से मानव के मानस को घेर ही लेती है। यदि वह मानव समाज में विचरण नहीं करता तो फिल्म, रेडियो, अख़बार, चित्र, पत्रिका, पुस्तक, विज्ञापन आदि के अस्तित्व के कारण समाज के सम्पर्क में रहता है। जिसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ बिलकुल निष्क्रिय नहीं हुई, वह उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। यदि जागरण-काल में वह अपनी दृढ़-इच्छाशक्ति द्वारा खुद पर तनाव को हावी नहीं होने देता, तो स्वप्नावस्था में वह गीला होकर अपने आपको तनाव से मुक्त कर लेता है। यदि उसकी अतिरिक्त-शक्ति रात्रि की अधूरी उत्तेजना में पूरे तौर से नहीं निचुड़ पाती तो प्रातःकाल उस गीलेपन के कारण होने वाले पश्चाताप के रूप में उसकी शेष अतिरिक्त-शक्ति नष्ट हो जाती है। शरीर अपनी शक्ति के आय-व्यय का हिसाब बराबर साफ रखता है।

....

वीर्य का महत्त्व

पूर्व दिए गए विवरण से यदि कोई व्यक्ति यह समझे कि लेखक संयम की गरिमा को कम करने और वीर्य के महत्त्व को नकारने पर तुला हुआ है, तो वह भ्रम में है और उसके भ्रम का निवारण अभी से हो जाना चाहिए ।

संयम यदि संयत हो और धारक के शरीर-धर्म के अनुकूल हो तो वह लाभदायक होता है । यदि वह शरीर-धर्म की अवहेलना करके ऊपर से थोपा जाए तो उस संयम से संयम की गरिमा प्राप्त नहीं होती । उस संयम को तो हठ की संज्ञा दी जा सकती है । हठ की प्रशंसा नहीं की जा सकती ।

वीर्य का अपना महत्त्व है । यदि किसी सामयिक आवश्यकता के कारण किसी युग के चिंतकों ने वीर्य का अतिरंजित महत्त्व प्रचारित किया था, तो उस तात्कालिक आवश्यकता को सार्वकालिक आवश्यकता मान कर वही महत्त्व उसे सदा के लिए नहीं दिया जाना चाहिए ।

`वीर्य` शब्द के व्युत्पत्तिक अर्थ की ओर ध्यान दीजिए । इसका शाब्दिक अर्थ है — `वीरत्व` । वीर्य निकला, मानो वीरता विदा हुई । एक तोला भर द्रव्य से वीरता का आशय क्यों लिया जाने लगा, इसकी कुछ चर्चा — `यौन-सुख का उपसंहार` प्रकरण में हो चुकी है । अभी कुछ विवेचन बाकी है ।

शारीरिक-संस्थान वीर्य-आगमन को आराम करने के समय की घण्टी समझ कर अपने आपको ढीला छोड़ देता है ।

फलत: विसर्जक की आँखें मुँदने लगती हैं। शरीर शिथिल पड़ जाता है। यह शिथिलता उसे वीर्य-दर्शन के उपरान्त महसूस होती है इसलिए वह वीर्य-हानि को ही शिथिलता का कारण समझ बैठता है। हर बार के स्खलनोपरान्त जब वह क्षीणता की अनुभूति करता है तो उसकी यह धारणा पक्की हो जाती है कि वीर्य शक्ति का सार है। वह `वीर्य` और `वीरत्व` में कोई भेद नहीं देखता।

वीर्य नामी द्रव्य शक्ति का सार हो या न हो, लेकिन वह शक्ति के क्षय का विज्ञापन तो है ही। इस रूप में उसका महत्त्व है। उसका दूसरा महत्त्व यह है कि वह पुरुष-सुलभ कुछ ग्रंथियों का रस है। उसका निकास उसी समय होना सम्भव होता है जब कि शरीर की क्षरण-क्षमता के अनुसार उत्तेजना के रूप में शक्ति व्यय हो चुकती है।

यदि कोई व्यक्ति प्राक्-क्रीड़ा से वीर्य-निष्कासन से पूर्व तक की सभी क्रियाएं करने के बाद अपना वीर्य स्तंभित करके समझे कि उसने अपनी शक्ति बचा ली, तो वह भ्रम में है। क्योंकि शक्ति वीर्य-निष्कासन से पूर्व उत्तेजना के रूप में व्यय हो चुकी होती है। इतना करने के बावजूद, यदि वह अपने आप में कोई शिथिलता महसूस नहीं करता तो उसकी इस अनुभूति-हीनता का कारण उसकी संस्कार-जन्य इच्छा-शक्ति है। यदि उस इच्छा-शक्ति के कारण वह तन्द्रा की अनुभूति नहीं करता तो विघन-तन्द्रा उसमें दिन भर व्याप्त रहती है। क्षरित शक्ति की पूर्ति किसी-न-किसी रूप से शरीर कर ही लेता है। विश्रांति के बारे में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वह अवसर पा कर आती है। व्यक्ति को लम्बी पैदल-यात्रा के दौरान भी थकावट का आभास नहीं होता। थकावट पाँवों की बेड़ी उस वक्त बनती है जब वह बैठ जाता है। एक बार

बैठ जाने के बाद उसका तब तक उठने को जी नहीं चाहता, जब तक वह आराम करके पिछली व्यय की हुई शक्ति की पूर्ति कर नहीं लेता ।

वीर्य-स्खलन नर और नारी दोनों के लिए एक क्षणिक अवसर प्रस्तुत करता है कि वे अपनी शक्ति-हीनता का अहसास कर लें । उस अवसर पर यदि दोनों व्यक्ति पलकें मूँद लें तो वही अवसर उन्हें मानो थपक कर विश्रांति की गोद में पहुँचाता है। यदि वे उस अवसर को निकल जाने दे और अपना यौनाभ्यास जारी रखें, तो वे तब तक विश्रांति की गोद में नहीं पहुँच पाते जब तक उनकी इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति में से कोई एक पराजित नहीं हो जाती ।

....

चिन्तक की विवशता

वीर्य का अतिरंजित महत्त्व भुला कर यदि उसका वास्तविक महत्त्व प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया जाए तो एक और परेशानी सामने आती है। सामान्य व्यक्ति किसी भी नियम या आदेश को ज्यों-का-त्यों नहीं मानता, अपितु अपनी रुचि के अनुसार उसमें फेर-बदल कर लेता है।

किसी लम्बे रोग से छुटकारा पा लेने के बाद यदि कोई व्यक्ति चिकित्सक से पूछे — `क्या मैं नहाऊं ?` और चिकित्सक कहे `चाहो तो नहा सकते हो।` तो रोगी इस सलाह का आशय जो चाहे समझ सकता है। नहाना यदि उसकी रुचि के प्रतिकूल है तो वह इस वाक्य का अर्थ यह समझता है — `अच्छा तो यही है कि मत नहाओ। यदि ज़िद करते हो तो बेशक नहा लो।` स्नान जिसके लिए रुचिकर है वह इस सलाह का अर्थ यह लगाता है — `अब अवसर है कि जब तुम नहा सकते हो।`

आचार-संहिताएं या धर्म-ग्रंथ उपर्युक्त सलाह जैसे ढीले-ढाले आदेश नहीं देते, बल्कि वे ग्राह्य के लाभ बढ़ा कर कहते हैं और अग्राह्य की हानियों का बखान करते नहीं थकते। यह इसलिए कि मोल-भाव की प्रवृत्ति रखने वाला मानव यदि उस आदेश को पूरा न मान कर, उसे आंशिक रूप में ही मान ले, तो भी काम-चलाऊ वर्जना हो जाए।

एक सामान्य व्यक्ति किसी भी नियम के अति-रूप पर ही ध्यान टिका सकता है। केवल वही नया-नियम उसे पुराने-

नियम पर से ध्यान हटाने के लिए बाध्य कर सकता है जिसका गुरुत्वाकर्षण अत्यन्त प्रबल हो । प्रबल आकर्षण उसी नियम का हो सकता है, जिसका लहजा दो टूक हो । मसलन `बिल्कुल न नहाओ` या `अवश्य नहाओ।` मानव की इसी प्रवृत्ति को समझते हुए पुराने ज़माने के संहिताकारों ने उच्छृंखलता के प्रतिकार के लिए उग्र-संयम के नियम लागू किए । स्वास्थ्य-सम्बन्धी पुस्तकों में इहलोक के लिए और धर्म-ग्रंथों में परलोक के लिए, संयम के असंख्य लाभ बताए । उस दुहरे प्रचार का परिणाम यह हुआ कि `काम` एक निंद्य-मनोविकार समझा जाने लगा और प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्त या अव्यक्त काम-चेष्टाओं के कारण अपने आपको अपराधी समझने लगा ।

इस स्थिति के आने का कारण यह था कि संहिताकार अपने नियम प्रतिष्ठित करते समय यह अवधि निश्चित करके नहीं गए थे कि वे नियम कौन-सी स्थिति के आने तक के लिए मान्य होंगे और किस स्थिति के आने पर अमान्य समझ लिए जाएंगे ।

नियम जड़ हैं और जगत् चैतन्य है । उन दोनों जड़ और चेतन का ताल-मेल अधिक देर तक निभ नहीं सकता । कुछ दिन, कुछ वर्ष या कुछ शताब्दियाँ बीतने के बाद वह स्थिति आ जाती है, जिस स्थिति को लाने के लिए संहिता के आदेश बने थे । उस समय संहिता की रचना का ध्येय पूरा हो जाता है । चाहिए तो यह कि वह संहिता धरती में गाड़ दी जाए या उसे `पुरातत्त्व` का अंश समझ कर सजा कर रखा जाए । लेकिन होता इससे विपरीत है । सामयिक-आवश्यकता के लिए बनाए गए नियमों की संहिता धर्म-ग्रंथ का दर्जा पा चुकी होती है । वह दबाई नहीं जा सकती, बल्कि अत्यन्त समर्थ-अनुगामियों के दल का नेतृत्व करने वाली बन जाती है । यदि संहिता के प्रभाव के कारण समाज संतुलित हो चुका होता है

तो भी वह अपने अनुगामियों को रुकने नहीं देती, आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा देती रहती है। फलस्वरूप समाज अ-सन्तुलन के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है। समाज-रूपी तराजू के साथ हमेशा से ऐसा होता आया है। इसके दोनों पलड़े संतुलित अवस्था में कभी नहीं देखे जाते।

एक परेशानी और है। समाज कई धर्मों, कई देशों, कई राष्ट्रों और कई जातियों में बटा हुआ है। एक भूभाग में रहने वाले, एक धर्म के अनुयायी यदि अपने आप को संतुलित बना लेते हैं तो उसी भाग के अन्य धर्मों के अनुयायी ज़रूरी नहीं कि उन संतुलितों का अनुगमन ही करें। उनके अपने धर्म-ग्रंथ होते हैं, उनकी अपनी मान्यताएं होती हैं। इससे विश्व-समाज में एकरूपता नहीं आती। इस विविधतामय समाज में वह क्षण कभी पकड़ में नहीं आता, जिस क्षण कोई कह सके कि पूरा समाज संतुलित हो गया है।

....

वीर्य नाश अभियान

उग्र संयम के प्रतिष्ठाकाल में, जब प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्त या अव्यक्त काम-चेष्टाओं के कारण अपने आपको अस्वस्थ या गुनहगार समझने लगा, वीर्य-क्षय से होने वाली शारीरिक-क्षति की पूर्ति के लिए वह हकीमों के दर पर और उससे होने वाले पाप के प्रतिकार के लिए पुरोहितों के द्वार पर जाना जब प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य बन गया तो उस संयम का प्रभाव नष्ट करने के लिए नये सुधारक की आवश्यकता महसूस की जाने लगी।

नये विचारक आए। उन्होंने औसत मानव को काम के भय से मुक्त करने के लिए यह शंखनाद किया —

> "यौन-प्रवृत्ति हमारी सहज-प्रवृत्ति है। इस पर रोक लगाना स्वस्थ व्यक्तित्व के विकास में बाधा डालना है।"

यह ध्वनि उग्र-ब्रह्मचर्यवाद की प्रतिक्रिया का फल थी। उसका वास्तविक उद्देश्य मानव को वीर्यनाश के वाद के पश्चाताप की उस स्थिति से निकालना था, जो स्थिति तथाकथित-गुप्तरोग-विशेषज्ञों ने कायम की थी। उनके रचे हुए तिलिस्म को तोड़ने के लिए सामान्य-उक्ति काफ़ी न थी। इसलिए संयम का विरोध करने के लिए अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया। लेकिन इस नये वाद के अनुयायी उस अतिशयोक्ति-अलंकार को परम सत्य मान कर उसके आधार पर अपने उप-नियम प्रचारित करने लगे।

संयमवादी मानव-रुचि का विरोध कर रहा था, सहज-प्रवृत्तिवादी मानव-रुचि के अनुकूल बोल रहा था, इसलिए संयम की प्रतिष्ठा स्थापित करने में पुराने लोगों को जितना समय लगा, जितना अध्यवसाय करना पड़ा उससे कम समय और कम परिश्रम से यह नयावाद प्रचलित हो गया।

अवसरवादी हर अवसर का लाभ उठाया करते हैं। "उग्र-संयम" के दौर में वे अवसरवादी स्वप्नदोष और प्रमेह की दवाइयां बनाकर लोक-सेवा का नाट्य करते थे, नये युग के अवसरवादी दूसरे रूप में सामने आए। उन्होंने सहज मानी जा चुकी यौन-प्रवृत्ति को अधिक सहज बनाने के लिए अपनी सेवाएं अर्पित कर दीं। उनमें से कोई तथाकथित-सांस्कृतिक-कार्यक्रम का अधिष्ठाता बन गया। किसी ने नग्न चित्रकारी या नग्न फोटो-ग्राफी को कला के रूप में प्रचारित करना आरम्भ कर दिया, किसी ने पारदर्शक वस्त्र बनाने का कारखाना खोल लिया, किसी ने नाईट-क्लब चालू कर दिया और किसी ने धूप-स्नान के नाम पर लोगों को सार्वजनिक रूप से कपड़े उतारने पर उतारू कर दिया। यह सब तथाकथित-परहित-चिंतक काम के आवेग से कुंठित व्यक्ति को कुण्ठा-मुक्त करने के लिए अपना योग दे रहे थे। लोक-लाज से त्रस्त व्यक्ति को आश्वासन देने का इनका लहजा कुछ इस किस्म का होता रहा—

"तुम समाज के भय से यौन-सम्बन्धी खेल खेलते घबड़ाते हो? तुम्हारी यह घबड़ाहट तुम्हें मानसिक-रूप से अस्वस्थ बना रही है। घबड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। मैं तुम्हारे यौन-अभ्यास के लिए निरापद स्थान का प्रबन्ध करने के लिए आतुर हूँ। तुम मेरे क्लब के सदस्य बन जाओ। यदि तुम वहाँ भी अपनी पहचान के किसी व्यक्ति से कतराना चाहो तो परवाह न करो, मैं कुछ क्षण के लिए क्लब की

बत्तियां बुझा कर तुम्हें खुल-खेलने का मौक़ा दूँगा । इसके बदले तुम मुझे अपनी आय का कुछ अंश दे दिया करना और मेरे लिए अंशदाता बढ़ाते रहना ।

' अंशदाता बढ़ाते रहने में भी मेरा नहीं, तुम्हारा ही लाभ है । जब मेरा क्लब आर्थिक-रूप से सम्पन्न हो जायेगा तो वह वकीलों की बहुमूल्य सेवाएं खरीद कर यह कोशिश करेगा कि कानून की नज़रों में तुम्हारे अवैध यौन-सम्बन्ध को वैध सिद्ध कर दे । तुम इसे असम्भव मत समझो । तुम्हें पता नहीं कि कानून के रक्षक भी तुम्हारी तरह की कमजोरियों के शिकार हैं । वे खुद सहज-प्रवृत्ति को और सहज बनाना चाहते हैं । मेरे प्रयत्न करने की देर है, वे हाँ-में-हाँ मिला देंगे । फिर तुम बत्तियां जला कर वह सब कुछ कर सकोगे, जो अँधेरा होनें पर अब किया करते हो । बल्कि यह सब कुछ तुम नदियों के तट पर और सार्वजनिक-उद्यानों में भी कर सकोगें ।

' यदि तुम यौन-शक्ति का अपव्यय करके अपनी उत्तेजन-शीलता का ह्रास कर चुके हो तो भी चिंता की बात नहीं, मेरे पास उत्तेजक दवाएं हैं , नंगे नाच हैं, उद्दीपक एलबम और फिल्में हैं और ये सब अपने उद्देश्य में इतने सक्षम हैं कि बर्फ में भी आग पैदा कर दें ।

' यदि तुम होंठों और कपोलों की रक्तिम आभा के ग़ायब होने के कारण परेशान हो तो मेरे पास इसका भी इलाज है । यदि तुम्हें अपने कन्धे, कमर, छाती और नितम्ब के कारण किसी प्रकार की हीनता का आभास होता है तो उन्हें इच्छानुसार घटाने-बढ़ाने के साधन भी मेरे पास हैं । ये सब तुम्हारे लिए सहर्ष और सविनय प्रस्तुत हैं ।'

यह सब कहते हुए, उन लोक-सेवकों का लहजा मिशनरियों के लहजे-सा बन जाता है और उनका अन्धानुगामी सार्वजनिक रूप से यह कहने, लिखने और छापने से नहीं हिचकिचाता कि वीर्य से पिंड छुड़ा कर मैंने क्या पाया या अपने दाहिने हाथ को अपनी पत्नी बनाकर मैं कितने लाभ में रहा ।

शायद अब वह समय आ गया है, जब यौन-प्रवृत्ति के संबंध में फैली हुई आधुनिक-मान्यताओं के बारे में पुनर्विचार किया जाए और प्रगति हो चुकने के बाद प्रगति के लिए बढ़ते हुए चरणों को रोका जाए। यदि अब भी उन्हें न रोका गया तो प्रगति अधो-गति बन जाएगी ।

प्रगति की वर्तमान गति देखकर यह कल्पना सहज ही में की जा सकती है कि आज की शिक्षा पाया, कल का चिकित्सक अपने रोगियों को यह सलाह देना प्राकृतिक-चिकित्सा के एन मुताबिक समझे —

> यदि तुम भावी यौन-विकृतियों से मुक्त होना चाहते हो तो अमुक घंटे बाद किसी-न-किसी माध्यम से अपनी वीर्य-प्रणाली ख़ाली कर दिया करो ।

....

प्रकरण — ८

पुरुष-सत्तात्मक-समाज के में नारी की स्थिति

— नारी, पुरुष की नज़र में
— पुरुष-सत्ता के कारण
— नारी-पराभव में साहित्य की भूमिका
— नारी-स्वतंत्रता तथा नरनारी-समता
  को वास्तविक रूप
— रूपजीवी : शरीर जीवी

नारी—पुरुष की नज़र में

"आसक्त-पुरुषों के देखने योग्य कौन-सी वस्तु है ?
मृगनयनी का प्रेम से प्रसन्न मुख ।
सूँघने योग्य कौन-सी उत्तम वस्तु है ?
उनके मुख की भाप ।
सुनने योग्य कौन-सी वस्तु है ?
उनका मधुर वचन ।
स्वादिष्ट वस्तु कौन-सी है ?
उनके अधर-पल्लव का रस ।
स्पर्श करने योग्य कौन-सी वस्तु है ?
उनका शरीर ।
ध्यान करने योग्य कौन-सी वस्तु है ?
उनका यौवन और विलास ।"[१]

यह रचना भर्तृहरि की है । यही भर्तृहरि, जो 'शृंगार शतक' में नारी की प्रशंसा करते नहीं अघाए, 'वैराग्य शतक' में नारी की चर्चा इन शब्दों में करते हैं —

"[२]स्त्रियों के स्तन माँस के लोथड़े हैं, पर कवि उन्हें कलश के समान बताते हैं । उनका मुख कफ़ का घर है, कवियों ने उसकी उपमा चन्द्रमा से दी है । उनकी जाँघे मूत्र

१. भर्तृहरि कृत शृंगारशतक ।।७।। २. भर्तृहरि कृत वैराग्यशतक।।२०।।

> टपकने से अपवित्र होती रहती हैं, लेकिन कवि उन्हें हाथी की सूँड के समान कहते हैं। स्त्रियों के इस घृणित रूप की कवियों ने कैसी बढ़ा-चढ़ा कर प्रशंसा की है।`

शृंगार प्रसंग में पुरुष को जो नारी ब्रह्मा की अनुपम सृष्टि लग रही होती है, वैराग्य या मोक्ष का प्रकरण आते ही उस नारी को, पुरुष के लिए वर्जित वस्तुओं की सूची में पहला स्थान मिलता है।

समाज पुरुष-सत्तात्मक है, इसलिए नारी के बारे में केवल पुरुष का दृष्टिकोण सामने आता है। यदि वह अपने साध्य की प्राप्ति में नारी को रोड़ा समझता है, तो वह उसकी ~~प्रशंसा~~ निंदा करने में ज़मीन-आसमान एक कर देता है। यदि वह नारी के व्यवहार को नहीं समझ पाता, तो वह उसे पहेली मान लेता है और यदि वह नारी के बिना नहीं रह सकता तो खुद को कमज़ोर कहने के बजाय नारी को ही पुरुष की कमजोरी घोषित करके अपने आपको बचा जाता है।

यदि समाज स्त्री-सत्तात्मक होता, तो पुरुष को नारी की कमज़ोरी माना जाता। ऐसी कई तपस्विनियों की कहानियाँ प्रचलित होतीं, जो पुरुष के मोहजाल में फँस कर पथ-भ्रष्ट हो चुकी होतीं। पुरुष को सृष्टि की अनुपम रचना मान कर उस का नख-शिख वर्णन इतने खुले शब्दों में किया जाता कि पुरुष उसे पढ़-सुन कर लजा जाता।

वस्तुत: पुरुष-सत्तात्मक-समाज में रहते हुए स्त्री-सत्तात्मक समाज की ठीक-ठीक कल्पना भी नहीं की जा सकती। `उल्टी गंगा`[१]

---

१. `मिनर्वा मुवीटोन` द्वारा निर्मित एक हिन्दी फिल्म, जिसमें काल्पनिक-स्त्री-सत्तात्मक-समाज पर व्यंग्य कसा गया था।

जैसी फिल्मों और `खुदा-न-ख़ास्ता`[१] जैसे उपन्यासों के माध्यम से नारी-सत्तात्मक-समाज का चित्रण यदि किया भी जाता है, उसका ध्येय नारी-सत्ता के काल्पनिक-युग को निकृष्ट सिद्ध करके पुरुष-सत्ता की भावना को गहरा करना होता है।

....

---

१. `शौकत थानवी` रचित एक उर्दू उपन्यास।

पुरुष सत्ता के कारण

प्रजनन के मामले में पुरुष की जिम्मेवारी उस समय खत्म हो जाती है जिस समय वह अपना शुक्राणु नारी के हवाले कर देता है। फिर नारी की जिम्मेवारी शुरू हो जाती है। जब पुरुषाणु नारी में नहीं पल रहा होता, तब नारी को मासिक-धर्म के रूप में अपना अतिरिक्त-द्रव्य निकालना होता है। नारी की यह विवशता उसे गृहणी बना देती है और घर से बाहर के संसार का सम्पर्क पुरुष से हो जाता है।

विशाल-बाह्य-क्षेत्र से सम्पर्क रखने के कारण पुरुष को ज्ञान-विज्ञान की नयी जानकारी मिलती रहती है और वह समर्थ से समर्थतर होता जाता है और नारी कूप-मण्डूक की तरह घर के भीतर बन्द रहती है तथा पुरुष पर अधिकाधिक निर्भर होती जाती है। पुरुष के स्वार्थ के लिए यह अच्छा है कि नारी उसकी इच्छाओं में बाधा डालने की स्थिति में न रहे, वल्कि उसके लिए उपभोग की एक वस्तु बनी रहे।

अपनी स्थिति को स्वच्छंद बनाए रखने के लिए पुरुष ने धर्म-ग्रंथों और साहित्य का सहारा लिया। ज्ञानस्रोत ग्रंथों पर पुरुष का एकाधिकार था, अत: उनके माध्यम से पुरुष अपने

१३५ आपको नारी से श्रेष्ठ सिद्ध करता रहा। उसका फल पुरुष की

वाँछा के अनुसार निकला । सीमित घेरे के भीतर रहने वाली नारी पुरुष-रचित-ग्रंथों के प्रभाव के कारण स्त्री-योनि को खोटा और पुरुष-योनि को उत्तम मानने लगी ।

यदि कोई वास्तव-द्रष्टा-नारी यह जान लेती है कि उसकी हीन-अवस्था का कारण, उसका घर में वन्द रहना, पुरुष पर निर्भर होना है, तो वह अपना कार्य-क्षेत्र घर के भीतर सीमित नहीं रहने देती । वह घर से बाहर के वातावरण में पुरुष-वत् कार्य करके अपने आपको आर्थिक-रूप से आत्म-निर्भर बना लेती है, लेकिन उस दशा में भी प्रजनन का काम हर हालत में उसे ही करना होता है । इस काम को वह पुरुष के ज़िम्मे नहीं लगा सकती। गोया पुरुष-योग्य काम करती रहने के बावजूद, नारी-योग्य काम — जैसे ऋतुमती या गर्भवती होना, गर्भकाल व्यतीत करने पर प्रसूता वनना, प्रसवोपरान्त शिशु को दूध पिलाना आदि कार्य नारी के जिम्मे फिर भी रहते ही हैं ।

गर्भ-निरोध के उपाय ज्ञात होने के वाद मैथुन और प्रजनन की अलग-अलग सीमाएं निश्चित हो चुकी हैं, लेकिन प्रजनन की वाँछा पुरुष या नारी को जब भी होती है, वह कार्य करना नारी को पड़ता है, इसलिए उसे फिर पुरुष की आश्रित होना ही पड़ता है ।

समतावादी राष्ट्रों ने नारी की आर्थिक-परतंत्रता को स्वतंत्रता के रूप में बदलने के प्रयत्न किये हैं । प्रजनन को कम कष्टकर बनाकर और धात्री-कर्म शासन के जिम्मे लगा कर उन्होंने नारी को आंशिक रूप से स्वतंत्र बनाने की चेष्टा की है, लेकिन नारी के लिए ये सुविधाएं जुटाने वाला पुरुष है, अत: उसका यह दाता रूप भुलाना नारी के लिए कठिन है ।

नारी-पराभव में साहित्य की भूमिका

नर और नारी दोनों की शरीर-रचना की वुनियाद एक ही क्रिया — यौन-समागम है। नर हो या नारी, दोनों एक ही गर्भाशय में पलते हैं और एक ही मार्ग से वाह्य संसार में प्रवेश करते हैं, लेकिन समान ढंग से उत्पन्न हुए, एक ही योनि के इन दो जीवों के अधिकार क्षेत्र जुदा-जुदा हैं। उभरे हुए यौनांग का शिशु पैदा होते ही परिवार में उल्लास छा जाता है, धँसी हुई यौन-प्रणाली देख कर घर भर में विषाद व्याप्त हो जाता है। यौनांग रचना के मामूली से भेद के कारण एक मोक्ष का अधिकारी समझ लिया जाता है, दूसरी नरक की खान मानी जाती है। एक सेवित और दूसरी सेविका, फिर ताज्जुव यह है कि औसत नारी को अपने आपको नरक की खान और सेविका मानने पर कोई आपत्ति भी नहीं होती।

जैसा कि इसी प्रकरण में पहले कहा गया है कि घर से वाहर के संसार का अधिष्ठाता पुरुष होने के कारण, ज्ञान के सभी स्रोतों, साहित्य की सभी विधाओं पर पुरुष का एकाधिकार रहा है, अत: पुरुष का रचा हुआ सारा साहित्य नारी-पराभव की भावना को गहरा बनाने में योग देता रहा है। दूर जाने की ज़रूरत नहीं, इस पुस्तक के शीर्षक `यौन-व्यवहार-अनुशीलन` पर ही नज़र डाल लीजिए। `यौन` का शाब्दिक अर्थ है `योनि-सम्वन्धी` या `योनि का`, लेकिन इसका जो अर्थ आज लगाया जाता है, वह इसके व्युत्पत्तिक अर्थ से अधिक व्यापक है। `यौन-विचार`

शीर्षक के अन्तर्गत मात्र नारी-जनेन्द्रियों की चर्चा ही नहीं आती, पुरुष-जनेन्द्रियों का विचार भी उसी शीर्षक के अन्तर्गत आ जाता है।

इस शब्द के प्रचलन का कारण यह है कि भाषा-विज्ञान, व्याकरण और काम-विज्ञान पर पुरुष का अधिकार रहा है। काम-तरंगों को नापने वाला पुरुष है और पुरुष के सुख का साधन नारी है। नारी अवयव `योनि` में उस की विशेष आसक्ति होती है, अतः वह `यौन` शब्द को 'काम' के पर्याय के तौर पर प्रयुक्त करता है।

धर्म-ग्रंथों का प्रणेता पुरुष रहा है। उसने अपने पुण्यों का फल पाने के लिए सुन्दर अप्सराओं से भरे स्वर्ग की कल्पना प्रचारित की है, लेकिन यह कहीं नहीं लिखा कि अपने पुण्य-प्रताप से यदि नारी स्वर्ग में प्रवेश करे तो उसे अप्सराओं का पुरुष-पर्याय भी मिलेगा या नहीं। अलबत्ता पाप-फल के लिए नारी के लिए नारकीय-यातनाओं की कमी नहीं है।

साहित्य में कदम-कदम पर पुरुष की उच्च-स्थिति प्रतिष्ठित की गयी है। अनुसुईया सीता को पतिव्रत-धर्म का जो उपदेश देती है,[१] वह उपदेश अनुसुईया के मुख से निकला होने के बावजूद पुरुष का रचा हुआ है। जो बात धर्म-ग्रंथों और पुराण-कथाओं में वर्णित है; कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास तथा समाज-विज्ञान में लिखी है, जिसे बड़े-बूढ़े और बड़ी-बूढ़ियां कहती हैं। सीता, सावित्री, सुकन्या आदि जिसे मानती रही हैं, उस पर कोई स्त्री कैसे यकीनन करे? और-तो-और उसका अपना पिता,

---

१. सहज अपावन नारि, पति सेवहिं शुभ गति लहई।

— रामचरितमानस ।।अरण्य काण्ड।।

जिसने उसे प्यार और दुलार से पाल-पोस कर बड़ा किया है, वह भी उसे ससुराल भेजते समय यह कहता है — "तुम्हारा देवता तुम्हारा पति है, वह चोर हो, जुआरी हो, लम्पट हो, व्यभिचारी हो, तुम्हारा पति है। उसी की खुशी में तुम्हारी खुशी है, उसकी चिन्ता तुम्हारी चिन्ता है। तुम पति के लिए हो, पति तुम्हारे लिए नहीं है।"

ग्रंथों और कहावतों के गुरु-भार से नारी का स्वतंत्र-चिंतन नष्ट हो जाता है। एक लोक-कथा के पाँच ठग मिलकर, अगर एक भोले ब्राह्मण की बछिया को पागल-कुत्ता कह कर हथिया सकते हैं, तो हजारों साल से साहित्य की हर विधा द्वारा नारी को ठगने के लिए पुरुष के बिछाए जाल में फँस, यदि नारी ठगी जाती है तो क्या आश्चर्य? यदि वह पति के शव के साथ हँसते-हँसते चिता में जल जाती है, या वैधव्य को कर्म-भोग समझ कर स्वीकार कर लेती है या अपनी तीन-तीन सौतों को खुदा की मर्जी समझ स्वेच्छा से स्वीकार कर लेती है और इस पर भी पति का हित-चिंतन करती रहती है, तो यह उसका त्याग नहीं है, यह तो प्रताप उस प्रचार का है जो पुरुष ने आदिकाल से जारी किया हुआ है।

पुरुष सत्ता की भावना को पक्का करने में चिकित्सा-शास्त्र भी पीछे नहीं रहा। उस शास्त्र का यह कहना कि विवाह योग्य जोड़े में वर की आयु, वधु से अधिक होनी चाहिए, पुरुष सत्ता को पक्का करने वाला एक उपाय है। इस उक्ति को पुष्ट करने के लिए चिकित्सा-शास्त्र वर से वधु की आयु कम होने के दो लाभ बताता है। एक यह कि किशोरी किशोर की अपेक्षा कम उम्र में परिपक्व होती है। दूसरा यह कि अधिक उम्र के पुरुष और कम उम्र की नारी के संयोग से जो संतान उत्पन्न होती है, वह उत्तम होती है।

इस प्रकट कथन के पीछे जो मनोवृत्ति काम करती है, उसका आभास निम्नलिखित है :-

सत्ता की दृष्टि से — पति यदि अपनी पत्नी से कम उम्र का होगा तो वह पत्नी की श्रद्धा न पा सकेगा । समाज में यह धारणा पुष्ट है कि जो पहले पैदा हुआ है, वह निश्चय ही अधिक बुद्धिमान है और आदर का पात्र है । पति यदि बड़ी उम्र का होगा, तो वह बुद्धिमान हो या न हो पत्नी पर रोब तो रख सकेगा । यदि वह पत्नी से कम आयु का होगा तो उसे पत्नी को आदरणीय तथा विदुषी मानना होगा ।

आर्थिक दृष्टि से — समाज की प्रचलित धारणा के अनुसार पत्नी उपभोग की वस्तु है और पति उपभोक्ता है । पति अपनी पत्नी का मनमाना उपभोग उसी दशा में कर सकता है, यदि वह स्वावलम्बी हो और पत्नी तथा संतान का भरण-पोषण करने के योग्य हो । पुरुष में वीर्य उत्पन्न हो जाए और उस वीर्य में प्रजनन की सामर्थ्य भी हो, तो भी वह किशोर ही समझा जाता है । परिपक्व नहीं समझा जाता, क्योंकि वह अभी भर्ता (यानी कमाऊ) नहीं होता, लेकिन लड़की प्रथम रजो-दर्शन से ही परिपक्व समझ ली जाती है । क्योंकि उससे भर्ता की वजाय `व्रता` का गुण अपेक्षित होता है । यदि वह अपने आप को परिपक्व नहीं भी समझती तो वातावरण तथा उसकी सहेलियां उसमें काम संबंधी जिज्ञासा पैदा करके, उसकी यौन-सुलभ ग्रंथियों को समय से पूर्व क्रिया-शील वना देती हैं । इससे उसके युवसुलभ नारी-अंगों का विकास भी तेज़ी से होने लगता है और समाज समझता है कि लड़की जवान हो गयी है । जो वात समाज समझता है, उसे लड़की भी समझने लगती है । इसी आर्थिक कारण से पुरुष-वीर्यधारी हो जाने के

उपरान्त भी तब तक किशोर और अपरिपक्व समझा जाता है, जब तक भरण-पोषण करने के योग्य नहीं हो जाता और नारी रजो-दर्शन होते ही परिपक्व समझ ली जाती है और उसके विवाह की चिंता उसके अभिभावकों को सताने लगती है।

रस-क्षेत्र में — पुरुष के रसिक स्वभाव का यह तकाज़ा है कि उसे अपने से कम उम्र की नयी-नवेली पत्नी पाने का सामाजिक अधिकार मिलता रहे। वह नहीं चाहता कि उसकी पत्नी उससे पहिले बुढ़िया बन जाए। वह खुद चाहे बूढ़ा हो, लेकिन पत्नी हमेशा जवान चाहता है। अपनी इस चाह को शास्त्र-सम्मत सिद्ध करने के लिए कभी वह धर्म-ग्रंथों से अपनी इस इच्छा का अनुमोदन कराता है और कभी प्रजनन-या काम-शास्त्र का उद्धरण देता है।

....

नारी-स्वतंत्रता तथा नर-नारी समता का वास्तविक रूप

अपने पालतू पक्षियों तथा मवेशियों से अधिक अण्डे, माँस, दूध और अच्छी खाल पाने के लिए पुरुष उन पर सदय होता है। वही पुरुष नारी से अधिक सुख पाने के लोभ में यदि कुछ कष्ट पाता है या उसे कुछ सुविधाएं देता है तो कुछ अनहोनी बात नहीं करता।

नारी पुरुष के नीरस जीवन में रस की धारा बन कर आती है। उसकी कामनाओं की निरन्तर उपेक्षा करके वह उससे सुख की आशा नहीं रख सकता। उसकी आवश्यकताएं समझने के लिए वह काम-विज्ञान तथा दाम्पत्य-जीवन की जानकारी प्राप्त करता है। यदि नारी उससे स्वतंत्रता चाहती है तो उसकी बात मान कर वह उसे ढील दे देता है, लेकिन पुरुष की ओर से नारी को दी गयी ढील, उस पतंग को दी गयी ढील जैसी होती है, जिसे जब चाहे वापस लौटाया जा सकता है।

कहने को नारी को राजनीति में भाग लेने का अधिकार है। वह अपना शासक चुनने में अपनी मर्जी से काम ले सकती है, बल्कि अपने हाथ में शासन ले सकती है। पुरुष उसे अपना शासक मान भी लेता है, लेकिन उसे शासक बनाने के साथ-साथ उसे यह अहसास भी बराबर दिलाया जाता है कि वह नारी होकर भी इतनी उच्च-स्थिति पर पहुँची हुई है। गोया यह एक ऐसी बात है, जिसकी चर्चा करनी ज़रूरी है।

नारी को समता देने का विषय बीसवीं सदी का मौलिक विषय नहीं है। धर्म-ग्रंथ अपने प्रत्यक्ष कथन में नर और नारी को बराबर का दर्जा देते रहे हैं और हर धार्मिक-सम्प्रदाय, अपने सहस्रों वर्षों के इतिहास में से दो-चार उदाहरण ऐसे दे सकता है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि नारी को पुरुष से कम नहीं समझा गया। शिवा, सीता और लक्ष्मी जैसी कुछ माननीय स्त्रियों को ग्रंथों में इतना ऊँचा दर्जा दिया गया है कि उनके नाम पर पुरुषों का मस्तक भी श्रद्धा से नत हो जाता है। यदि उन नारी-रत्नों के श्रद्धापात्र होने के वास्तविक कारण की ओर नजर डाली जाए तो उस प्रतिष्ठा की तह में कहीं-न-कहीं पुरुष अवश्य होता हैं। ऐसी श्रद्धापात्र महिलाएं या तो वे होती हैं, जिन्होंने पतिव्रत धर्म में अपना हनन कर दिया होता है, या वे, जो देव-पुरुषों की पत्नियां होने के कारण इस प्रतिष्ठा की अधिकारिणी समझ ली जाती है।

प्राचीन ग्रंथों में स्त्री और पुरुष की उपमा एक गाड़ी के दो पहियों से दी गयी है। धर्म-ग्रंथ पुरुष और नारी के जिम्मे कुछ कर्तव्य लगाते हैं और उन्हें कुछ अधिकार देते हैं, लेकिन वास्तविक संसार में देखा जाए तो नारी के अधिकार हवा हो जाते हैं, कर्तव्य कायम रहते हैं। पुरुष के कर्तव्य भुला दिए जाते हैं, लेकिन अधिकार प्रचण्ड रूप धारण करके नारी का शोषण करते रहते हैं।

गृहस्थ-धर्म में नारी को पुरुष की अर्द्धांगिनी माना गया है, लेकिन नारी को अर्द्धांगिनी मानने वाला पुरुष, अपने आपको नारी का आधा अंग नहीं मानता। नाम उसका 'घरवाली' वेशक रखता है, लेकिन उसे जब चाहे घर से निकाला जा सकता है।

सह-धर्मिणी वह होती है । उसके बिना पति के यज्ञादि धार्मिक-कृत्य निष्फल होते हैं, लेकिन जब कभी पत्नी जंगल में भटक रही होती है तो पति अपने वाम-भाग में अपनी पत्नी की प्रतिमा स्थापित करके अपने धार्मिक कृत्य, यज्ञादि पूर्ण कर लेता है ।

पहले के युग की नारी की अपेक्षा आज की नारी अपने आपको अधिक स्वतंत्र समझती है । इसलिए वह अपने आपको इस योग्य मानने लगी है कि वह पुराने युग की उस नारी की विवशता पर तरस खाए, जो पति को परमेश्वर मानती थी । विवाह से पूर्व वह अच्छा पति पाने के लिए तपस्या करती थी । विवाह होने पर जो भी पति मिल जाता था उसी के चरण दबाया करती थी । पति उसका सर्वस्व होता था । उसकी विमुखता से बचने के लिए वह वशीकरण के उपाय, मंत्र टोटके आदि का सहारा लेती थी । लेकिन पुराने युग की नारी पर तरस खाने वाली आज की नारी खुद कम दयनीय दशा में नहीं है । इसमें संदेह नहीं कि जब वह किसी सार्वजनिक स्थान पर जाती है तो पुरुष उसे सीट देने के लिए खुद खड़ा हो जाता है । नारी इसी पर इतरा जाती है कि वह अधिक माननीय हो गयी है ।

यदि आज की नारी अपने आप पर नज़र डाले तो वशीकरण के उपाय वह भी कम नहीं बरत रही है । कमर, नितम्ब, छाती और एड़ियों के वाँछित नाप की रक्षा के लिए वह अपने आपको जितनी यातना देती है, वह वशीकरण के अन्य किसी अनुष्ठान से होने वाले कष्ट से कम नहीं होती । सिर के जूड़े की रक्षा के लिए वह गर्दन के नीचे ऊँचे तकिए रखती है। चेहरे की रमणीयता बढ़ाने के लिए वह प्लास्टिक-सर्जन का द्वार खटखटाती है । कमनीय बनने के लिए अल्पाहार की शरण लेती है । यह सब देख कर वह स्वयं जान सकती है कि वह वास्तव में स्वतंत्र नहीं हुई,

बल्कि पहले से कुछ अधिक ही परतंत्र हुई है। यदि उसे कोई स्वतंत्रता मिली है तो इतनी कि पहले वह केवल एक पुरुष को लुभाया करती थी, अब उसे सार्वजनिक रूप-से लुभावनी बनना पड़ता है। पहले वह दरबारों में कुछ राजा-नवाबों, सामंतों या मुसाहबों के सामने नाचती थी, नग्न होती थी। नये युग में वह नारी मॉडल बन कर चित्रकार और छायाकार के सामने अपने आपको उघेड़ देती है। सत्ता के विकेन्द्रीयकरण ने, छापेखाने और फिल्मों के अविष्कार ने उस नग्नता को सार्वजनिक बना दिया है। नारी का लुभावनापन अब एक बाकायदा उद्योग-धन्धा बन गया है। इन सबके देखते हुए भी नारी यदि अपने आपको स्वतंत्र समझती है तो यह उसकी भूल है। देखा जाए तो वह स्वतंत्र नहीं हुई, बल्कि पुरुष की पसंद के अनुरूप ढल गयी है।

आज की नारी यदि पुरुष के साथ कदम-से-कदम मिलाकर चलती है तो इसलिए कि पुरुष का नारी को अपने समकक्ष चलाना भला लगता है। वह उच्च शिक्षा प्राप्त कर रही है, इसलिए कि आज का पुरुष अशिक्षित नारी को अपना जीवन-साथी बनाने को तैयार नहीं है। वह पर्दे से निकल आयी है,इसलिए कि बेपर्दा नारी पुरुष को अच्छी लगती है। जिस देश, जिस काल का पुरुष नारी को जिस रूप में देखना चाहता है, नारी वही रूप अपना लेती है। पूर्व की नारी पौर्वात्य पुरुष की पसंद के अनु-सार जीवन व्यतीत करती है, पश्चिम की पश्चिम के पुरुष की पसन्द के अनुसार।

....

रूप-जीवी : शरीर-जीवी

किसी भी वाद के संरक्षक राष्ट्र में छपी कोई भी महिलोपयोगी पत्रिका उठाईए । उसमें खाने-पकाने और घर सजाने के तरीके चाहे बताए गए हों या नहीं, लेकिन अपने आपको आकर्षक बनाने के भेद अवश्य लिखे होते हैं । वह इसलिए कि यह आकर्षण ही नारीका सबसे बड़ा हथियार है,जिसके बल पर वह इच्छित पुरुष को जीत कर उसके उत्पादित-साधनों का मनमाना उपयोग कर सकती है। पुरुष जो साधन पसीना बहा कर प्राप्त करता है, वे सब नारी को उस पुरुष की प्रेयसी बनने से ही प्राप्य हो जाते हैं ।

नर्स,अध्यापिका,सेक्रेटरी और टाइपकार बन कर पूरा महीना परिश्रम करके वह जो कुछ पाती है, किसी साधन-सम्पन्न पुरुष के मन में खुब कर वह उससे अधिक कुछ क्षणों ही में पा सकती है।फिर वह क्यों न उन गुणों की वृद्धि करे जिससे उसके प्राप्तव्य बनने की सम्भावना बढ़ सके।आर्थिक स्वावलम्बन के लिए नारी नौकरी पाने की चेष्टा करती है, लेकिन वह देखती है कि नौकरी देते समय भी नौकरी-दाता पुरुष उसके अन्य गुणों की अपेक्षा उसके रूप पर अधिक ध्यान रखता है । इससे हर औसत-नारी हर क्षण अपने आप को स्वयंबर जैसे एक अजीब से वातावरण में खड़ा पाती है,जहां वरमाला उसके अपने हाथ में नहीं होती, बल्कि वधुमाला पुरुष के हाथ में होती है ।

जिस प्रकार नारी को पुरुष की आवश्यकता है,उसी प्रकार पुरुष का जीवन भी नारी के बिना अधूरा है । अपने नीरस जीवन को सरस बनाने के लिए उसे नारी के संग की ज़रूरत होती है। वह उसे आकृष्ट करने के लिए काम्य बनने की चेष्टा करता है, लेकिन मन-

पसन्द नारी प्राप्त करने के साधनों में उसके रूप-गुण का महत्त्व नगण्य होता है। नारी जहाँ मन-पसन्द पुरुष पाने के लिए दर्जी या केश-विन्यासक का द्वार खटखटाती है, पुरुष अपने मन की नारी पाने के लिए ऊँची परीक्षा देकर ऊँचा पद पाने की चेष्टा करता है। अधिक रुपया कमाने की योजनाएं बनाता है।

पश्चिम के जिन राष्ट्रों में नारी समता का अधिक नारा बुलन्द किया जाता है, वहाँ नारी को रूप-जीविका पर अधिक निर्भर होना पड़ रहा है। पुरुष की घनी निगाहों का केन्द्र बनने की तमन्ना वहाँ की नारियों में बढ़ती चली जा रही है और उस बढ़ती हुई तमन्ना ने नारी के रूप को एक सुनियोजित उद्योग-धन्धे का दर्जा दे दिया है। वहाँ नारी का सौन्दर्य भावना के क्षेत्र से निकल कर आँकड़ों के पैमानों से नापने की वस्तु बन गया है।

सामान्य-सौन्दर्य के लिए नितम्ब के नाप जितना वक्ष होना चाहिए। वक्ष का जो नाप हो उसका एक तिहाई निकालने से कमर का औसत नाप निकल आता है। यदि वक्ष और नितम्ब के बीच का कटि भाग उस औसत नाप से कम हो जाए तो सौन्दर्य अलौकिक समझा जाता है।

जो स्त्रियां या लड़कियां सार्वजनिक सम्पत्ति नहीं है उनके अंगों की नाप-जोख करने का अधिकार उनके प्रेमी, पति या भावी-पति को होता है, लेकिन जिनका रूप-रंग सार्वजनिक उपभोग की वस्तु होता है — मसलन मॉडल लड़कियां, अभिनेत्रियां, नर्तकियां, काल-गर्ल्ज़ — उनके रूप सम्बन्धी आँकड़े प्रचारित करना आवश्यक समझा जाता है। किसी नारी की सौन्दर्य-चर्चा करने के लिए उपमाएं तलाश करने की अब वहाँ ज़रूरत नहीं रही ३६-३४-३६ कह कर ही उस समाज के पुरुष को उस औरत से सम्पर्क स्थापित करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है। ३६ - ३८ - ३६ कह कर उस

पुरुष को विना दिखाए ही उस नारी से विमुख किया जा सकता है।

नारी के रूप-जीवी बनने पर किसी को कुछ आपत्ति नहीं होती, लेकिन शरीर-जीवी बनने पर होती है।

शरीर-जीवी उसे नहीं कहा जाता जो केवल एक पुरुष को जीवन भर के लिए (या एक लम्बे अर्से तक के लिए) अपने शरीर के उपभोग का एकाधिकार देकर `पत्नी` नाम धारण कर लेती है, बल्कि उसे कहा जाता है जो अनेक पुरुषों को थोड़े-थोड़े समय के लिए अपना शरीर भोगने का अधिकार देती है।

नारी को पुरुषवत् अधिकार देने का ढोंग रचाने वाला पुरुष अब नारी के `वेश्या` रूप पर शर्मिन्दा होने लगा है। जिस पुरुष ने घोड़ों, गधों, खच्चरों और वैलों पर लादे जाने वाले बोझ की अधिकतम मात्रा निश्चित करके पशुओं पर दया की है, वही पुरुष अपनी ही योनि के एक सदस्य के प्रति यदि दयालु न बने तो उसके लिए शर्मिन्दगी की बात है। इसलिए बहुत से देशों में वेश्यावृत्ति अवैध घोषित कर दी गयी है। लेकिन समाज, पुरुष सत्तात्मक है, इसलिए सज़ा आमतौर पर वेश्यागामी को नहीं बल्कि वेश्या को मिलती है। वह सजा चाहे सरकार न दे, लेकिन अर्थ-व्यवस्था इस किस्म की होती है कि वेश्या के साथ की गयी हमदर्दी ही उसके लिए सज़ा बन जाती है। जिसमें रूप हो वह तो रूपजीवी बन कर जीवन व्यतीत कर लेती है, लेकिन समाज से बहिष्कृत जिस नारी में रूप नहीं होता, और न कोई योग्यता होती है, वह यदि अपने शरीर को जीविका का माध्यम बनाने के अधिकार से वंचित

कर दी जाती है, तो उसके लिए वेश्यावृत्ति-उन्मूलन नाम की सहानुभूति मँहगी पड़ती है। तथाकथित हमदर्द लोगों की हमदर्दी द्वारा जीवन यापन होना असम्भव समझ कर वह अपना भला इसी में समझने लगती है कि वह उन दलालों की बात मान ले जो एक ज़रूरतमंद को दूसरे ज़रूरतमंद से मिलाने के लिए, उन दोनों से अधिक उत्सुक होते हैं। ऐसी अर्थ-व्यवस्था मरे समाज में वेश्या-वृत्ति उन्मूलन के लिए खोजे हुए सारे उपाय व्यर्थ हो जाते हैं। शरीर-जीवी नारी गायिका, नर्तकी, देवदासी, काल गर्ल, परि-चायिका या सोसाइटी-गर्ल जैसे किसी-न-किसी रूप में पुरुष सत्तात्मक समाज का एक आवश्यक अंग, हर काल में बनी रहती है।

....

प्रकरण — ६

यौन प्रसंग में श्रेष्ठक-भावना

- — कामांग-प्रदर्शनेच्छा
- — कामांग-प्रदर्शनेच्छा पर पुरुष-सत्ता का प्रभाव
- — पुरुष-श्रेष्ठत्व बनाम मैथुन-सामर्थ्य
- — वेश्यागामी का दृष्टिकोण
- — बलात्कारी का दृष्टिकोण
- — यौन-प्रकरण में नारी की श्रेष्ठक-भावना ।
- — सतीत्व-महिमा की पृष्ठभूमि

कामांग-प्रदर्शनेच्छा

'मेरी आवाज़ कर्कश हो गयी है। चेहरे, हाथ-पाँव, टाँगों और शरीर पर मोटे-मोटे बाल उग आए हैं। शरीर की स्निग्धता विदा ले चुकी है, उसकी जगह खुरदरापन छा गया है। हाथ-पाँव, बेढंगेपन से बढ़ गये हैं। योनांग की श्यामलता गहरी हो गयी है। उसके आसपास निकलने वाले बालों ने उसे और भी भद्दा बना दिया है।'

बचपन से जवानी की ओर बढ़ता हुआ किशोर, यह सब सोच-सोच कर परेशान हो जाता है। पढ़ा सुना उसने है कि लड़की लड़के की ओर आकृष्ट होती है, लेकिन उसके विचारानुसार वे लड़के और होते होंगे जो लड़कियों को लुभा सकते होंगे। कम-से-कम उसकी अपनी काया इस योग्य नहीं कि किसी लड़की के मन को लुभा सके।

दूसरी ओर यौवन की ओर पदार्पण करने वाली लड़की अपने शरीर के कुछ भागों पर उभरते हुए माँस-पिण्डों से परेशान हो रही होती है। लड़कों के सपाट शरीर के मुकाबिले में उसे अपना वक्र शरीर बेतुका-सा लगता है। विशालकाय पुरुष के सामने उसे उसका छोटा-सा निरीह शरीर, बच्चों का-सा अपरिपक्व स्वर, धँसी हुई बालों भरी यौन-प्रणाली, उससे हर मास निकलने वाला ऋतुस्राव, यह सब उसे हीनता से भर देते हैं।

किशोर और किशोरी को अधिक समय तक इस कुण्ठा से ग्रसित नहीं होना पड़ता। जो बात समाज में हरेक को ज्ञात है, वह

सवेर अबेर नव-विकसित किशोर और किशोरियों को भी ज्ञात हो जाती है। उन्हें पता लग जाता है कि अपने अंगों के इन नवीन-संस्करणों के कारण ही वे विषम-लिंगियों के लिए काम्य बनते हैं।

कभी-कभी यौन-सुलभ अंगों का विकास बाद में होता है और उनका महत्त्व पहिले ज्ञात हो जाता है। उस दशा में लड़का दाढ़ी उगने से पहले ब्लेड का उपयोग करके वाँछित वाल उगा लेता है और लड़की कृत्रिम-साधनों के सहारे से अपने शरीर में मुनासिव उभार समय से पूर्व पैदा कर लेती है।

अपने युव-सुलभ अंगों का श्रेष्ठत्व ज्ञात होते ही किशोरियां और किशोर उन अंगों को, जिन्हें वे पहिले छुपाने के लिए प्रयत्नशील हो रहे थे, प्रदर्शित करने को लालायित होने लगते हैं।

अपनी आंगिक-यौन-विशेषताओं के श्रेष्ठत्व में लीन व्यक्ति का स्वगत-कथन कुछ इस प्रकार का होता है —

'मेरे पास कुछ ऐसे अंग हैं जिनकी आवश्यकता विषम-लिंगिय व्यक्तित्व को है। उन अंगों के मेरे पास मौजूद होने का ज्ञान अधिक-से-अधिक लोगों को करा देना चाहिए, ताकि ज़रूरतमन्द खुद आकर सम्पर्क स्थापित कर लें।'

यह सोचता हुआ प्रदर्शनेच्छुक छल-पूर्वक अपने यौनांग दिख जाने देता है। उस छद्म-प्रदर्शन के अनेक ढंग होते हैं। मसलन किसी कोने में खड़े होकर, आने-जाने वाले लड़के-लड़कियों के सामने अपना अधोवस्त्र गिर जाने देना। उसे उठाने-उठाने में देर लगा कर अधिकाधिक दर्शकों को आकृष्ट होने का अवसर देना। सार्वजनिक-स्थान पर सोते हुए अपने अधोवस्त्रों को ऊँचा होने की प्रेरणा देना।

अंगिया के बटनों को अपने आप खुलने योग्य बनाना । इस तरह उठना, बैठना या चलना जिससे यौनांग दिख जाएं । छल से आशय यह प्रकट करना होता है कि उसने जानबूझ कर नहीं दिखाया बल्कि भूल से अनजाने में दिख गया ।

अपने आपको इस प्रकार दिखा देने से प्रदर्शक का आशय अपने सम्भावित यौन-सहयोगी को यह निमंत्रण देना होता है कि आओ आकर मुझ से प्रेम निवेदन करो । फिर वह उस निवेदन की प्रतीक्षा करता है । आमतौर पर ऐसी प्रतीक्षा विफल होती है, लेकिन उन प्रदर्शनेच्छुकों में से कोई कोई उस प्रतीक्षा के सुख का इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उसे मैथुन की आवश्यकता नहीं रहती । अपने अंग प्रदर्शित करते समय उसका शरीर इतना गर्मा जाता है कि उसके शरीर की अतिरिक्त-शक्ति का अधिकांश इसी गर्माने में ही व्यय हो जाता है ।

यदि दर्शक उसके यौनांग देखने पर लजा जाए तो वह उस लज्जा को श्रेष्ठत्व-स्वीकृति का चिह्न समझता है । उसका अन्तर्मन जानता है कि लाज हीनता के आभास के कारण आती है । वह हीनता उसका कामांग देख कर आयी, इसलिए वह अपने आपको श्रेष्ठ समझ सकता है । यदि दर्शक गालियाँ देने लगे तो वह यह सोच कर आनन्दित होता है कि प्रणय का प्रथम चरण डाँट-फटकार होता है । यह बात उसने उपन्यासों में पढ़ी है, फिल्म-नाटकों में देखी है, मित्रों से सुनी है । प्रथम चरण से द्वितीय चरण की प्रतीक्षा तक उन्हीं गालियों से आनन्दित होने का उसे पूर्ण अवसर मिलता है ।

जब कभी उसे अपना यह श्रेष्ठत्व प्रकट करने से रोका जाता है तो उसे वैसा बुरा लगता है जैसा किसी वाचाल को बोलने से मना करने पर लग सकता है ।

कामांग प्रदर्शन के ऊपर दिए गए उपाय अपनाने वाले आमतौर पर साधन-हीन वर्ग के लोग होते हैं । साधन-सम्पन्न वर्ग अपना श्रेष्ठत्व दिखाने के लिए ऐसे अशिष्ट ढंग नहीं अपनाता, बल्कि शिष्ट ढंग से अपनी श्रेष्ठता प्रकट करता है । वह धूप-स्नान शिविर जैसे निरापद स्थानों पर अपने कामांगों के दर्शक ढूँढ़ता है।

कामांग प्रदर्शन में ही मैथुन-काल जितनी उत्तेजना प्राप्त कर लेने की स्थिति तक बिरले ही पहुँचते हैं । अधिक संख्या उनकी होती है जो दूसरे दर्जे की यौन-विशिष्टताएं प्रकट करके अपने श्रेष्ठत्व की तृप्ति पाते हैं ।

शिश्न और योनि को छोड़ कर युवसुलभ शेष सारी विशिष्टताएं दूसरे दर्जे में आ जाती है । कमीज़ के बटन खोल कर छाती के बाल दिखने देना या अपने वस्त्रों में से बानगी के तौर पर कोई भाग प्रदर्शित कर के आगे के लिए उत्सुकता जगा देना, हल्के दर्जे की प्रदर्शनेच्छा है ।

प्रदर्शनेच्छा ज़रूरी नहीं कि विवस्त्र होकर ही पूरी की जा सकती है । यदि अपने अंगों के सौष्ठव पर पूरा भरोसा हो तो पूरे कपड़े पहन कर अपना यह श्रेष्ठत्वप्रकट किया जा सकता है । उस अवस्था में कपड़े उस बेवकूफ की पहेली जैसे होते हैं, जो पूछता है कि अगर तुम बता सको कि मेरे थैले में क्या है, तो ये तुम्हारे; यदि तुम यह बता सको कि कितने हैं तो बारहों के बारहों तुम्हारे ।

जो अपने अंगों का प्रदर्शन करने के अभ्यस्त नहीं हैं, उन्हें या तो अपने अंगों की श्रेष्ठता पर विश्वास नहीं है या वे अपना श्रेष्ठत्व और तरीके से प्रकट करने के आदी हैं । अपनी यौन-विशिष्टाओं को आवरण में छुपाए रखने का प्रचलन ऐसे हीन-भावुक साधन-सम्पन्न वर्ग के छा जाने के फलस्वरूप हुआ है, जो अपनी

आंगिक-हीनता के कारण शर्मिन्दा होता रहता था । एक काल्पनिक उदाहरण से यह बात स्पष्ट करने में सहायता मिलेगी । मसलन एक सेवक पुरुष-सौन्दर्य की दृष्टि से अपने स्वामी से अधिक श्रेष्ठ हो, तो स्वामी को अपने सेवक की वह श्रेष्ठता अखरेगी । वह कोई ऐसा उपाय अपनाना चाहेगा जिससे वह हीन शरीर का होते हुए भी अपने सेवक से अधिक श्रेष्ठ लगने लगे और सेवक उससे हीन दिखाई दे ।

अपने लिए बढ़िया लिबास और सेवक के लिए घटिया लिबास, उसकी उस श्रेष्ठत्व-समस्या का हल बन सकता है । चूँकि उस परिपाटी को चलाने वाला साधन-सम्पन्न होता है इसलिए अपनी उस आवश्यकता को वह समाज की आवश्यकता कह कर, स्वास्थ्य के लिए लाभदायक बता कर चला सकता है ।

किस्सा-कोताह यह कि जो व्यक्ति अपने आंगिक-सौन्दर्य के प्रति शंकित थे उन्होंने लिबास का रिवाज चलाया और जिन्हें अपनी काया के श्रेष्ठ होने पर गर्व है, वे अपने आपको विवस्त्र करने को बेताब है । उस बेताबी का नाम चाहे क्लाथोफोबिया[१] रख लिया जाए, अशिष्टता रखा जाए या धूप-स्नान प्रवृत्ति, उससे कुछ फर्क नहीं पड़ता ।

....

---

१. एक तथाकथित मानसिक-रोग जिसका मरीज़ कपड़े पहनने में उलझन महसूस करता है ।

कामांग-प्रदर्शनेच्छा पर पुरुष-सत्ता का प्रभाव

पुरुष यदि और कुछ न पहने, केवल लंगोट पहन ले तो वह श्लीलता की सीमा में आ जाता है। नारी को श्लीलता की उस सीमा में जाने के लिए लंगोट से अधिक कपड़ा चाहिए। क्योंकि यह आम धारणा है कि पुरुष केवल लंगोट के स्थान से नग्न समझा जाता है,नारी उस स्थान के साथ-साथ वक्ष-स्थल से भी नंगी समझी जाती है।

गोया बुनियादी नंगेपन से बचने के लिए पुरुष को जितना कपड़ा चाहिए, नारी को उससे अधिक चाहिए लेकिन आधुनिक समाज में जितना संक्षिप्त लिबास पहन कर नारी प्रगतिशील दिखती है, उतना संक्षिप्त लिबास पुरुष पहन कर समाज में आ जाए तो वह अशिष्ट समझा जाता है।

एक औसत पुरुष (कामांग-प्रदर्शनेच्छुक नहीं) समाज में खुद को शिष्ट सिद्ध करने के लिए अपने शरीर पर कपड़ों की तह पर तह लगाता है। पूरा लिबास पहन लेने के बाद जो अंग कपड़ों से बाहर रह जाते हैं उन्हें जुराब, बूट, टाई आदि से बंद कर देता है। चेहरा खुला रख कर शेष सारे शरीर को ढाँप लेना आधुनिक सभ्य पुरुष का बाना है। उस औसत लिबास से कम पहनना या तो अशिष्टता का सूचक समझा जाता है या विपन्नता का।

पुरुष की अपने आपको ढाँपने की इस प्रवृत्ति के पीछे उसकी अपने शरीर के प्रति हीनता की भावना होती है। जिन कामांग-प्रदर्शनेच्छुक-पुरुषों का ऊपर जिक्र हुआ है, वे औसत पुरुषों

की श्रेणी में नहीं आते । उनकी गणना असामान्य-व्यक्तियों में होती है ।

सामान्य-पुरुष सिवाय उत्तेजना काल के, अपने यौनांगों के प्रति, अपने शरीर के प्रति, हीनता का भाव रखता है। जहाँ तक उससे हो सकता है, अपने यौनांग को दूसरों की नजरों से बचाता है ।

धूप-स्नान-वादी पत्रिकाओं के सम्पादक, मूर्तिकार तथा चित्रकार चूंकि साधारणत: पुरुष होते हैं इसलिए उनकी छैनी, कैमरा या तूलिका पुरुष-कामांग का चित्रण करने की बजाय नारी-सुलभ-अंगों के चित्रण में अधिक दिलचस्पी लेने लगती है । जहां नर और नारी दोनों को एक साथ विवस्त्र दिखाना अभीष्ट हो, वहाँ पुरुष-कलाकार पुरुष-काया को नारी की ओट में दिखाने की चालाकी करके पुरुष-वर्ग को भरे समाज में नंगा होने से बचा जाता है । यदि अकेले पुरुष को वस्त्र-विहीन दिखाना हो तो वह पुरुष का या तो साईड-पोज़ दिखा देता है या शिश्न को अंजीर के पत्ते जैसी किसी वस्तु से छुपाने की कोशिश करता है ।

नारी के अपने मत के अनुसार उसके युव-सुलभ अंग कोई विशेष आकर्षण नहीं रखते । यदि वह किसी ऐसे वातावरण में पली, बढ़ी हो, जहाँ उसे अपने अंगों के बारे में पुरुष का दृष्टि-कोण ज्ञात न होने दिया गया हो, तो वह अपने युव-सुलभ अंगों को भद्दा मानेगी । लेकिन एक औसत नारी आमतौर पर अपने सौन्दर्य के बारे में पुरुष के मत से बेख़बर नहीं रहती । पुरुष द्वारा रचे नख-शिख वर्णन के कारण उसे अपने विशिष्ट अंगों के महत्त्व का ज्ञान होता रहता है ।

पुरुष उसके शरीर के अधिक-से-अधिक भागों को वस्त्रों से बाहर देखना चाहता है। चूंकि वह सत्ताधीश भी है, इसलिए अपनी चाह को पूरा करने में समर्थ भी होता है। फल यह होता है कि पुरुष-सत्तात्मक-समाज में बसने वाली नारी का लिबास पुरुष की पसन्द के अनुकूल संक्षिप्त से संक्षिप्ततर होता चला जाता है।

जिस प्रकार पुरुष नारी को विवस्त्र देखना चाहता है, उसी प्रकार पुरुष को विवस्त्र देखने की कामना नारी में भी होती है, लेकिन सामाजिक-गठन इस प्रकार का है कि वह सार्वजनिक रूप से अपनी यह कामना प्रकट नहीं कर सकती। इसलिए पुरुष अपने विशिष्ट अंगों के महत्त्व से पूर्णतः जानकार नहीं हो पाता और अपने शरीर के प्रति हीनता की धारणा रखता है। वह इतना अवश्य जानता है कि मनपसन्द नारी-शरीर पाने के लिए वह यदि अपने विशिष्ट अंगों का सौष्ठव प्रदर्शित करने की बजाय, यदि उन साधनों को प्रदर्शित करे, जिससे वह नारी पर यह प्रकट कर सके कि वह नारी की महत्त्वाकांक्षाएं पूरी करने में समर्थ है, तो वह अधिक अच्छा यौन-जीवन व्यतीत कर सकता है। वह अपने दृष्टि-कोण के अनुसार अपने हीन-शरीर को कीमती लिबास से ढाँप लेता है। उस लिबास के ऊपर कोई बहूमूल्य कार ओढ़ लेता है, बिल्डिंग ओढ़ लेता है।

जिस पुरुष के पास प्रदर्शित करने के लिए ये सब साधन नहीं होते, रह-सह कर एक पुरुष शरीर होता है, वही पुरुष अपना लिबास संक्षिप्त होने देता है।

....

पुरुष-श्रेष्ठत्व बनाम मैथुन-सामर्थ्य

पुरुष को समाज में जो विशेषाधिकार मिले हुए हैं, उन विशेषाधिकारों का भोक्ता बनने के लिए हर व्यक्ति अपना `पुरुष` गुण सार्थक करने के लिए कुछ-न-कुछ उपाय करता ही है।

पुरुष से कई गुणों की अपेक्षा की जाती है। उसमें धीरता, बल, शौर्य और साहस होना चाहिए। यदि उसमें ये सब गुण हों, लेकिन उसमें मैथुन-क्षमता न हो तो बहुसंख्यकों की निगाह में वह पुरुष कहलाने का अधिकारी नहीं समझा जाता। यदि उसमें पुरुषोचित अन्य गुण न हों, केवल मैथुन-क्षमता हो, तो उसे आसानी से मर्द मान लिया जाता है। मर्दानगी का मैथुन-क्षमता वाला यह आंशिक अर्थ इतना प्रतिष्ठित हुआ है कि एक लेखक को `ठंडी-स्त्रियाँ` कहने की बजाय `पुरुषत्वहीन स्त्रियां` कह कर अपना भाव प्रकट करना अधिक सरल लगा है।

ऐसे समाज में रहने वाला हर औसत मर्द अपनी रुचि, मनोदशा और वातावरण के अनुसार, कोई ऐसी क्रियाशीलता दिखा देना चाहता है जिससे वह नपुंसक या स्त्री से अलग दिखे। कोई अश्लील-गालियां बकने का आदी बन कर राहगीरों की माँ, बहन और बेटी से अपना यौन-सम्बन्ध जोड़ने लगता है और कोई कुल-संसार के पुरुषों को अपना `साला` बना लेता है।

`साला` और `ससुरा` ये दो सम्बोधन भारत में गाली के तौर पर भी प्रयुक्त होते हैं। जो व्यक्ति सचमुच `साला` या `ससुरा` नहीं है, उसे यदि वक्ता इन शब्दों से सम्बोधित करता है, तो इससे उसका आशय यह होता है `तुमने अपनी बहन या बेटी मुझे मैथुन के लिए दी हुई है।`

161 जो सचमुच ही साला या ससुर है, उसे यदि ये शब्द कहे जाएं तो उसे इस सम्बोधन पर कोई आपत्ति नहीं होती, लेकिन

उसे गाली के तौर पर ये शब्द कहे नहीं जाते, बल्कि उसे कहे जाते हैं, जिससे ऐसा सम्बन्ध नहीं होता ।

गाली के तौर पर जो व्यक्ति किसी की माँ या बहन से यौन-सम्बन्ध होने की घोषणा करता है, तो इससे वक्ता के मन की यह बात तो स्पष्ट होती ही है कि उस मैथुन को वह अपने लिए लज्जा की बात नहीं मानता, बल्कि गालियों के पात्र के लिए शर्मिन्दगी की बात समझता है । दूसरे शब्दों में वह उस बात की घोषणा करता है कि अगम्य-स्त्री से सम्बन्ध रख कर पुरुष का कुछ नहीं बिगड़ता, बल्कि उस अगम्य-स्त्री की ही हानि होती है ।

इस तरीके से अपना पौरुष प्रकट करने वाला व्यक्ति अपनी नजरों में, या अपने जैसे मित्रों की नज़र में भले ही पौरुष-सम्पन्न हो, लेकिन शिष्ट-समाज में वह असभ्य समझा जाता है । जो खुद को शिष्टता का दावेदार समझता है,वह शिष्टता के दायरे में रहकर लड़कियों पर मर-मिटने वाला भाव प्रकट करने वाली शाईरी करने लगता है । कोई इस किस्म की ज़बानी जमा-खर्च पर यकीन नहीं रखता । वह राह चलती लड़कियों को छेड़ने लगता है ।

यदि कोई नवयुवक किसी लड़की को छेड़ता है तो उसका उद्देश्य हर दफ़ा यह नहीं होता कि वह लड़की से मैथुन करने का आकांक्षी है, बल्कि वह अपनी इस क्रिया से यह प्रकट करता है कि वह पुरुष हो गया है । अपने मित्रों में अपने पुरुषत्व का प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए वह ऐसा कोई काम करना चाहता है, जिससे उन्हें ज्ञात हो सके कि अब कामेच्छा दबाना उसके बस की बात नहीं रही । यदि उसे छेड़खानी के बदले में थप्पड़ या जूता खाने का कटु-अनुभव हो जाए, तो वह इसे अपने लिए शर्मिन्दगी की बात नहीं समझता,बल्कि गौरव की बात समझता है । अपने जैसों के समाज में बैठ कर, नमक-

मिर्च लगाकर वह उस कटु अनुभव तक पहुँचने वाली घटना का व्योरा सुनाता है। उस घटना के प्रचार से उसका ध्येय अपने मित्रों तक यह संदेश पहुँचाना होता है कि उसने जो हरकत की थी (लड़की से कन्धा मिड़ाया था उस या उसके कुच मसले थे या उसका चुम्बन लिया था) उससे जो आनन्द आया था, वह इतना अधिक था कि थप्पड़ या जूता खाने का कष्ट उस आनन्द की तुलना में नगण्य था।

इस प्रकार की घटना सुनाने से उसका अप्रकट आशय यह है —

' अब तो तुम सब को यक़ीन आ जाना चाहिए कि मैं नपुंसक नहीं हूँ। मुझ में पुरुष का मुख्य गुण काम-लोलुपता पर्याप्त रूप से विद्यमान है। वीर, शूर, साहसी या धीर चाहे मैं होऊं या न होऊँ, लेकिन औरत को बिस्तर पर पछाड़ सकने में समर्थ अवश्य हूँ। तुम जब चाहो, मैं अपने इस गुण का प्रमाण देने के लिए तैयार हूँ। '

. . . .

वेश्यागामी का दृष्टिकोण

`पुरुष` का मुख्य गुण `मैथुन-सामर्थ्य` मान लेने या मनवा लेने के बाद उस गुण का प्रचार करने के लिए जो साधन अपनाए जाते हैं, `वेश्यागमन` उनमें से एक है।

अविवाहित-व्यक्ति यदि यौन-सहकर्मी के अभाव में मदन-ताप घटाने के लिए वेश्यागमन करता है, तो यह उसके शरीर-धर्म की आवश्यकता समझी जा सकती है। लेकिन कोई विवाहित - व्यक्ति यदि सुन्दर और गर्म पत्नी के होते हुए वेश्यागामी बने, तो यह उसके शरीर-धर्म की आवश्यकता नहीं, उसके पुंस्त्व-प्रचार की आवश्यकता है। अपनी इस क्रिया द्वारा वह दूसरों पर यह प्रकट करना चाहता है कि उसका पुंस्त्व इतना उग्र है कि अकेली पत्नी द्वारा सम्भाला नहीं जा सकता। वेश्यागमन का दूसरा कारण यह है कि वेश्या ही एक ऐसी नारी है जो भरी सभा में किसी पुरुष का श्रेष्ठ-पुंस्त्व स्वीकार कर पुरुष-विशेष को अभिनन्दित कर सकती है।

लोग हैरान होते हैं कि घर में लक्ष्मी-सी सुन्दर बहु को छोड़ कर अमुक व्यक्ति क्यों अपेक्षया असुंदर वेश्या या गायिका के चक्कर में जा फँसा। लोगों का आश्चर्य स्वाभाविक है। वे पुरुष की उस मानसिक भूख को नहीं जानते जो `पापी बलम`, `बेईमान साजन` या `निर्दयी प्रीतम` जैसी तथाकथित गालियाँ सुन कर तृप्त होती है। गालियों के रूप में इस प्रकार के संबोधन सूचक शब्दों से पुरुष को अपनी `माँग` का महत्त्व ज्ञात होता है।

शृंगार रस के प्रकरणों में जब कोई पुरुष किसी नारी को `निर्दय` या `बेवफ़ा` जैसे शब्दों से सम्बोधित करता है, तो उसके मन में उन शब्दों की व्याख्या कुछ इस किस्म की होती है: —

`तुम्हें देख कर काम-ज्वाला से दग्ध होने लगा हूँ। उसे शांत करने की माध्यम तुम हो। यदि तुम उसे शान्त करने के लिए तय्यार नहीं हो, मेरी बुरी हालत पर रहम नहीं करती हो, तो तुम दयालु नहीं हो, निर्दय हो।`

उपर्युक्त प्रकार के सम्बोधन, पुरुष अपने प्रति सामान्य घरेलू नारी के मुख से कम ही सुनता है। उसके इस श्रेष्ठत्व को भरी सभा में स्वीकारने वाली नारी वेश्या होती है। अपने पुं-रुष गुण के इस चारण को वह त्रिलोक का राज्य दे सकता है। चूंकि त्रैलोक्य का राज्य उसके पास नहीं होता, इसलिए वह वेश्या को कहना चाहता है —

`लो, मेरी आय का जितना भाग तुम चाहो, ले लो। इसके बदले में एक बार किसी गीत के बोल के रूप में, या अपने हाव-भाव के रूप में तुम सबके सामने मुझ पर यह प्रकट करो कि तुम में मेरा पुंस्त्व पाने की अभिलाषा है।

`बेशक मेरी पत्नी तुम से अधिक सुन्दर है, लेकिन वह मेरे पुरुषत्व की दाद देने की कला में इतनी प्रवीण नहीं है, जितनी तुम हो।

`मेरे अन्य गुणों की दाद देने के लिए मेरे बहुत से मुसाहिब हैं, लेकिन मेरी यौन-सामर्थ्य की दाद देने वाला सिवाय तुम्हारे कोई नहीं है।

`इतिहास साक्षी है कि तुम बेवफा हो। तुम्हारी लाज बनावटी है, तुम्हारे हाव-भाव झूठे हैं। यह सब कुछ जानते

हुए भी मैं इस वास्तविकता पर पर्दा पड़े रहने देना चाहता हूँ। यदि कोई महाकंजूस अपने नाम के साथ `महादानी` पढ़ कर खुश हो सकता है, तो तुम्हारी इस खुशामद से मैं क्यों न खुश होऊं।

`यदि तुम कभी मुझे दाद नहीं भी देती, मुझे लाँछित करती हो, अपमानित करती हो, तो भी एक तरह से मेरे पुंस्त्व का प्रचार हो ही जाता है। जिन लोगों में मैं उठता-बैठता हूँ, वे प्रभावित ही इस बात से हो सकते हैं कि किस पुरुष का काम कितना प्रबल है। जब तुम मुझे धक्का दे देती हो, तो उन तक परोक्ष रूप से यह बात पहुँच जाती है कि मेरा पुरुषत्व प्रबल था। इतना प्रबल कि न वह घर की पत्नी से सम्भाला जा सका, न तुम्हारे तिरस्कार से ही घटा -- मेरे लिए यही बहुत है। अब मैं उन नर-रत्नों में बैठने का अधिकारी हो गया हूँ, जो `पुरुषत्व` का अर्थ 'मैथुन-सामर्थ्य' के इलावा कुछ नहीं लगाते।`

....

बलात्कारी का दृष्टिकोण

बलात्कार के मुकदमे का अपराधी बड़े गर्व से अपना परिचय देता है—मैं 'रेप केस' का अपराधी हूं।' उसका सलूक न्यायाधीश या जेलर के प्रति वैसा होता है, जैसा बन्दी राजा पुरु का विजेता सिकन्दर के साथ होना ऐतिहासिक नाटकों में लिखा है।

मैं बलात्कारी हूँ — इस वाक्य की जो व्याख्या उसके मन में होती है उसका भाव यह है —

'आप सब लोगों को अब यक़ीन हो जाना चाहिए कि मैं पुरुष हूं। मुझ में पुरुषोचित अन्य गुण हों या न हों, लेकिन मुझ में किसी नारी का सतीत्व-भंग करने का गुण विकट रूप में मौजूद है। मैं जेल के द्वार तक आ पहुँचा हूं, लेकिन यह तो सोचो कि किस जुर्म में ? चोरी मैंने नहीं की, ठगी मुझ से नहीं हुई, डकैत मैं नहीं हूं ; बल्कि मेरा जुर्म यह है कि मैं नपुंसक नहीं हूं। अपना पौरुष प्रकट करने के लिए लोग हथेली पर जान लिए घूमते हैं। अपने हाथों को चूड़ियों के अयोग्य सिद्ध करने के लिए, लोग तोपों के दहानों में सिर डाल देते हैं। वही पुरुषत्व प्रकट करने के लिए मैंने भी एक राह अपनाई, तो क्या बुरा किया।

'इतिहास प्रसिद्ध वीरों के जोखिम भरे कामों की अपेक्षा, पौरुष प्रकट करने का मेरा तरीका अधिक मज़ेदार और कम जोखिम का था। इसमें एक तो मनपसन्द सुन्दरी का आनन्द भोगा, दूसरे न्यायालय में मौजूद दर्शकों, जजों, वकीलों के सामने अपने प्रबल-कामी होने का प्रमाण-पत्र लिया।'

बलात्कार करने के बाद चाहे कर्ता दिल-ही-दिल में पछता रहा हो, लेकिन अपना पश्चाताप वह प्रकट नहीं करता । वैसे भी कोई बलात्कारी यह सोच कर घर से नहीं चलता कि मैं बलात्कार करने जा रहा हूं । बलात्कार हो चुकने से पहले के क्षण तक उसे यही विश्वास होता है कि मैं बलात् कुछ भी नहीं कर रहा, बल्कि अपने एक नये यौन-सहयोगी को यौनानन्द का आस्वादन कराने लगा हूँ । उसके मन में अपने अटकलबाज मित्रों के सुने हुए — `हँसी तो फँसी` जैसी कुछ लोकोक्तियां होती हैं । उसने रोमांटिक उपन्यास-कहानियों में पढ़ा है और मित्रों से सुना है कि जो लड़की प्रेम-निवेदन के समय लज्जित दिखाई दे तो समझिए स्वीकृति के लिए तैयार है । क्रुद्ध हो जाए तो आशा रखिए तैयार हो जाएगी। `ना` कहे तो एक दूसरी प्रचलित लोकोक्ति ध्यान में लाईए कि नारी की `ना` का अर्थ `हाँ` होता है — इत्यादि ।

कुछ अटकलबाज यौन-शास्त्रियों के फतवे भी उसके इरादों को पक्का बनने में सहायता देते हैं कि नारी में पुरुष से आठगुनी काम शक्ति होती है, जो बाहर से दिखाई नहीं देती, कुरेदने से ज्ञात होती है । एक बार जिससे जो नारी संतुष्ट हो जाती है उसकी गुलाम बन कर रहती है ।

यह सब पढ़ सुन कर वह बलात्कारी नारी की काम शक्ति को कुरेदने का दायित्व अपने पर लेता है । वह इस आशा से प्राक्-क्रीड़ाएं शुरू करता है कि मानिनी मान जाएगी । यदि वह मैथुन के प्रति अनिच्छा प्रकट करेगी, उसका कारण उसमें नारी-सुलभ लज्जा का होना होगा । वास्तव में वह मन से मेरी कामना कर रही होगी । बस मेरे पहल करने की देर है, वह समाज द्वारा पहनाई गई लज्जा की झिल्ली उतार कर कुछ ही क्षणों में उसके आगे पुंस्त्व की याचना करने लगेगी ।

इस प्रकार अपने आपको समझाता-बुझाता हुआ बलात्कारी प्राक्-क्रियाओं से आगे बढ़ता है। यदि उसका वास्ता निपट कुमारी के साथ होता है तो वह अपने मन को यों समझाता है —

`जो मुझ से यौन-सुख नहीं लेना चाहती, वास्तव में उसे उस सुख का ज्ञान ही नहीं है। जब एक बार वह उस आनन्द को पा लेगी, तो फिर वह उसके बिना रह न सकेगी। केवल पहली बार उसे यौन-सुख से परिचय कराने की सेवा तो मुझे करनी ही चाहिए। चाहे उसके लिए मुझे कुछ सख्ती से ही काम क्यों न लेना पड़े।`

यदि वह किसी अगम्य परिपक्व स्त्री की ओर अग्रसर होता है तो उस तक जाने का उसका तर्क यह होता है —

`अब तक वह नारी जो यौनानन्द प्राप्त करती रही है, वह अधूरा है। मन-ही-मन वह किसी पूर्ण-पुरुष की तलाश में है। सिर्फ संकोच वश `ना` कर रही है, वरना उसे ज्ञात नहीं उसके मन का वह अज्ञात देवता, जिसकी तलाश उसे है, वह मैं हूं। लो, मैं ही आगे बढ़ कर उसके किसी काम आता हूँ।`

यह सोच कर वह बढ़ता है। नारी की `ना` का अर्थ `हाँ` समझाने वाला उसके मित्रों का दिया हुआ शब्दकोष उसके पास होता है। अत: वह नारी की हर अनिच्छा सूचक-क्रिया का अर्थ अपनी मर्जी से `इच्छा` लगाता हुआ बढ़ता चला जाता है। पूर्ण-उत्तेजित होकर वह अपने बस में नहीं रहता। वह बलात्-समागम कर डालता है। उसके बाद होश आने पर उसे पश्चाताप होता है, लेकिन वह अपना पश्चाताप प्रकट नहीं करना चाहता। वह सोचता है, अब जो हो गया, उससे प्रतिष्ठा का पहलू निकलना चाहिए। यह सोच कर वह अपनी उस क्रिया को अपना पुरुषोचित गुण मान कर, अपनी गर्दन पहले से अधिक तान लेता है।

यौन-प्रकरण में नारी की श्रेष्ठता-भावना

मैथुन-काल में नारी के मुख से निकली `आह` को अपनी मर्दानगी के हक़ में `वाह` समझने वाला पुरुष, जब कभी अपनी पहली रात की घटना मित्रों को सुनाता है तो अपने कथन में झूठ की मिलावट अवश्य कर लेता है। यथार्थ में अगर वह मंजिल पर ठीक तरीके से न भी पहुँचा हो लेकिन वह कहता यही है कि उसने अपनी यौन-सहयोगिनी से तौबा कराकर ही दम लिया।

प्रथम-समागम की घटना का बखान जब कोई नारी अपनी सहेली से करती है, तो वह अपनी मैथुन-सामर्थ्य नहीं दर्शाती, बल्कि यह प्रकट करती है कि मैं अपने प्रियतम को अत्यन्त प्रिय लगी। इतनी अधिक कि बारम्बार मुझ से भोग करने पर भी उसका मन न भरा। यदि उसके शरीर पर नख, दंत आदि के चिन्ह बने हुए हों तो फिर बात ही क्या। अपने प्रिय की प्यारी होने के ये प्रमाणपत्र, वह छुपाने का बहाना करते-करते दिखा देती है।

कोई लड़का किसी लड़की का पीछा करता है, या छल-पूर्वक उससे स्पर्श करता है, या छेड़खानी करता है तो लड़की समझती है कि इससे उसका गौरव बढ़ा है। ऐसी घटना का जिक्र अपनी सहेलियों से करके वह यह सिद्ध करना चाहती है कि वह अब रमणी-पद पा चुकी है। यदि किसी लड़की के साथ उस किस्म की अप्रिय (परोक्ष रूप से प्रिय) घटना नहीं घटती, तो वह चाहती है कि घटित हो। ऐसी लड़की आमतौर पर वही हो सकती है जिसमें आकर्षण का अभाव हो। अत: कुरूप लड़की अपने रूप की चौकी-

दारी अधिक सजगता से करती है। जहाँ ज़रा-सा पल्लू भूले से किसी पुरुष से छू गया, या किसी के मुख से ऐसा द्वि-अर्थक शब्द निकल गया, जिसका एक अर्थ यौन-क्षेत्र की सीमा में आता हो, या अ-जाने में किसी पुरुष का उससे अंग-स्पर्श हो गया, वह भीड़ इकट्ठा कर लेना चाहती है। इससे उसका आशय इस घटना के कुछ प्रत्यक्ष-दर्शी गवाह एकत्र करना होता है, जिनके सामने वह किसी व्यक्ति पर दोषारोपण कर सके। और उसके आधार पर वह अपने जानकारों तक यह संदेश पहुँचा सके —

'यह मत समझो कि मुझ पर कोई कुदृष्टि नहीं डालता। मेरे रूप के चाहने वाले भी हैं। अपनी सुन्दरता पर नाज़ करने वाली मेरी सहेलियो, इस रूप के लोभी पुरुष के कृत्य को देखो, जो अब झूठ बोल कर बचना चाहता है कि इसने मुझ पर आवाज़ें नहीं कसीं या मुझे नहीं छुआ।'

बलात्कृत होना किसी भी परिपक्व स्त्री के लिए परम श्रेष्ठत्व की अवस्था है। उसके रमणीत्व का इससे बड़ा प्रमाणपत्र और क्या हो सकता है कि उससे एक बार समागम करने के लिए किसी पुरुष ने जेलयात्रा तक का जोखिम उठा लिया। किसी साहसिक-कर्म से मिलने वाले सुख जैसा भय-मिश्रित-सुख उसे बलात्कार काल के बाद मिलता है। लेकिन अपनी सुख-प्राप्ति की स्वीकृति वह सार्वजनिक रूप से नहीं कर सकती क्योंकि पुरुष-सत्तात्मक समाज, अगम्य-यौन-सम्बन्ध-भुक्ता नारी को बहुत से सामाजिक-अधिकारों से वंचित कर देता है। बलात्कार के क्षण यदि उसने स्वेच्छा से अपने आपको बलात्कारी के हवाले कर भी दिया हो, तो भी वह अपनी 'स्वेच्छा' को अप्रकट रख कर, अपने आपको पीड़ित प्रकट करती है। उसका काम्य होने का यह अभागा-गौरव उसका व्यक्तिगत रहस्य

बना रहता है । बलात्कार से उसको यदि सुख मिला भी हो तो वह अपना हित यह कहने में समझती है —

" मेरे साथ जबरदस्ती हुई । मेरे लिए वह क्रिया अप्रिय थी । इसलिए मुझे बेकसूर समझ कर, मुझे वे सब सामाजिक-अधिकार दिए जाएं जो अव्यवहृत-नारी को मिलते हैं । "

....

सतीत्व-महिमा की पृष्ठभूमि

कई कबीलों में यह रिवाज है कि विवाह के बाद पहली रात को पति अपनी पत्नी से समागम करने के बाद, उसकी योनि से निकले खून से सना कपड़ा पुरुष-पक्ष के सम्बन्धियों को दिखाता है ताकि वे सब जान लें कि नयी दुलहिन का कौमार्य असंदिग्ध है। इससे पूर्व किसी पुरुष से उसका यौन-सम्बन्ध नहीं रहा।

विवाह से पहले योनि-मार्ग का सतीत्व की झिल्ली से आच्छादित होने और विवाहोपरान्त उस मार्ग का केवल पति के लिए सुरक्षित रहने का एक विशेष महत्त्व है। यह महत्त्व उस समय पराकाष्ठा तक पहुँच जाता है जब कोई समाज पति को इस बात का अधिकार दे देता है कि वह यदि चाहे तो अपनी अनुपस्थिति में अपनी पत्नी के योनि-मार्ग को ताला लगाकर, उसकी चाबी अपने पास रख ले।

सभ्य समझा जाने वाला समाज कुंजी-ताले वाली चौकसी का अनुमोदन नहीं करता, लेकिन सतीत्व को नारी का अनिवार्य गुण अवश्य मानता है। उस गुण से हीन नारी के लिए सामाजिक और धार्मिक-दंडों का विधान उसने बनाया हुआ है।

सतीत्व को जो महत्त्व मिला है, उसका कारण उत्तराधिकार-सम्बन्धी नियम समझा जाता है। पुरुष कहता है—

` मेरा उत्तराधिकारी वही बन सकता है जो मेरे अंश से उत्पन्न हो । मेरा ही अंश मेरी विवाहिता में प्रवेश कर सके, अन्य किसी का भी नहीं, इसीलिए मेरे पूर्वजों ने सतीत्व-सम्बन्धी नियम बनाए थे ।`

उपर्युक्त कारण बता कर नारी से सतीत्व की माँग करना, पुरुष का तराशा हुआ बहाना है । अगर उत्तराधिकार वाली बात सही होती तो दूसरों द्वारा जनित्र बच्चों को गोद लेने की प्रथा न होती ।

सतीत्व की प्रतिष्ठा स्थापित करने का वास्तविक कारण,जो पुरुष खुल कर बताना नहीं चाहता, वह यह है कि पुरुष अपने `पौरुष` के प्रति सदा सशंक रहता है ।

उग्र-मैथुन-वादी पुरुषों ने झूठ-सच बोलकर,पूर्ण-पुरुषत्व का जो रूप प्रतिष्ठित किया है, उसके अनुसार कोई भी पुरुष मन से अपने आपको पूर्ण नहीं मानता । किंवदन्तियों पर आधारित यौन-शास्त्र का ज्ञाता पुरुष अपने आपको अपूर्ण-पुंस्त्व का स्वामी मानता है, इसलिए वह कोई ऐसा प्रबन्ध करना चाहता है, जिससे उसकी शय्या का रहस्य बाहर जा सके ।

पुरुष में मैथुन-सामर्थ्य का होना समाज में इतना आवश्यक समझा जाता है कि उसमें जरा-सी भीकमी काआनाउसके लिए डूब मरने की बात समझी जाती है । उसमें और कोई गुण न हो, मात्र मैथुन-क्षमता हो, तो वह गर्व से छाती तान कर चल सकता है । विपरीत इसके उसमें अन्य गुण पराकाष्ठा पर हों, केवल इस एक गुण में कुछ कमी हो और उस कमी का रहस्य किसी तरीके से उस के बिस्तर से बाहर जाकर खुल जाए, तो उसकी निगाहें समाज में नीची हो जाती हैं । उस एक कमी के कारण उसके अन्य गुणों का भी अवमूल्यन हो जाता है ।

अन्य क्षेत्रों की अपनी कमियां स्वीकार करने के लिए पुरुष तैयार हो सकता है, लेकिन अपनी पुंस्त्व-हीनता को वह खुले रूप में मानने को तैयार नहीं होता। पुंस्त्व-प्रतिष्ठा से युक्त समाज में वह अपनी पत्नी की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नौकर-चाकरों की सेवा ले सकता है, लेकिन यौन-आवश्यकता की पूर्ति के लिए उसे स्वयं क्रियाशील होना पड़ता है। यदि उसकी क्रियाशीलता में कोई कमी हो तो वह दूसरों की मदद से मैथुन-क्षमता बढ़ाने वाले पौष्टिक या वाजीकरण औषधियों का प्रबन्ध करा सकता। अपनी ठंडी रगों में गर्मी पैदा करने के लिए उत्तेजक दृश्यों का प्रवन्ध कर सकता, लेकिन शारीरिक-संसर्ग के लिए वह अपनी पत्नी के निकट किसी को नहीं आने देना चाहता।

यदि वह अपनी विवाहिता को यौन-संतुष्टि देने में अपने आपको असमर्थ समझता है तो वह त्रिया चरित्र की कहानियां याद करने लगता है। भगवान् से लौ लगाने का नाटक रच कर पत्नी का ध्यान सांसारिक-कार्यों से विमुख करना चाहता है या किसी काल्पनिक रोग से रुग्ण होकर अपने इर्द-गिर्द सहानुभूति का ऐसा वातावरण तैयार करता है, जिससे उसकी पत्नी उससे मैथुन की माँग न करे, बल्कि उसकी सेवा करने में अपना कल्याण समझने लगे। वह स्वयं कुछ कर सके या नहीं, लेकिन वह अपनी पत्नी से किसी दूसरे पुरुष द्वारा, वही कुछ होने देने की आज्ञा नहीं दे सकता।

संतति के लिए वह पत्नी की गोद में दूसरा शिशु डाल सकता है, उसकी गोद हरी करने के लिए पर-पुरुष का वीर्य टैस्ट-ट्यूब के माध्यम से ला कर अपनी पत्नी की कोख उपजाऊ बना सकता है, लेकिन वह उस पुरुष को, जिस का शुक्राणु ट्यूब के माध्यम से उसकी विवाहिता तक पहुँचा है, व्यक्तिगत रूप से अपनी पत्नी से

समागम करने का निमंत्रण नहीं दे सकता । यदि वह होने देता है तो मौजूदा पुरुष-सत्तात्मक-समाज उसे ग़ैरतमन्द मानने को तैयार नहीं होता ।

पर-पुरुष की छाया से अपनी पत्नी को बचाने की चेष्टा के पीछे पुरुष की यह आशंका है कि कहीं पर-पुरुष उसे मेरे द्वारा दिए गए यौन-सुख से अधिक यौन-तुष्टि उसे न दे दे । अब तक मैंने सच-झूठ बोलकर अपने पौरुष का, अपनी यौन-शक्ति का जो मानक रूप अपनी पत्नी की निगाह में बनाया है, उसे ठेस न पहुंचे ।

सतीत्व की झिल्ली से आच्छादित कन्या से पुरुष विवाह करना चाहता है, इसलिए कि वह यौन-ज्ञान के मामले में कूप-मंडूक की तरह होती है । ऐसी कन्या इस जानकारी से अनभिज्ञ होती है कि पुरुष से प्राप्त होने वाला मानक सुख क्या होता है । प्रथम सहवास के समय उसके योनि-मार्ग से निकला रक्त देखकर नव-विवाहित पुरुष को यह शांति प्राप्त होती है कि वह कन्या मुहरबन्द डिब्बे की तरह सुरक्षित उस की शय्या तक पहुँची है । उसने अब तक किसी पुरुष का आनन्द नहीं लिया । ऐसी कन्या पाकर वह मन-ही-मन सोचता है —

'अपनी यौन-सामर्थ्य के अनुसार मैं उसे जो यौन सुख दूँगा, उसे ही वह सुख की पराकाष्ठा मान कर मुझ पर श्रद्धा रखेगी । यदि मैं उसे थकाने से पहले थक जाऊँगा तो जबानी जमा-खर्च द्वारा मैं उसे अवगत करा सकूंगा कि ऐसा सब के साथ होता है और वह मेरी बात का तब तक यक़ीन करती रहेगी, जब तक वह दूसरे पुरुष के सम्पर्क में न आएगी । इसलिए कोई ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए, जिससे वह दूसरे पुरुष के संसर्ग में न आ सके ।'

हर औसत पुरुष को इस प्रकार के प्रबन्ध की आवश्यकता होती है और साहित्य की सारी विधाओं की रचना पुरुष के हाथ में होती है, इसलिए वह सतीत्व को नारी का अनिवार्य गुण मनवाने में सफल हो जाता है। जीवन भर वह अपनी विवाहिता को पर-पुरुष के पुंस्त्व से बचाता है। वह कोशिश करता है कि उसके मरने के बाद भी उसकी पत्नी किसी अन्य पुरुष के संसर्ग में न आए। अपने जीवन काल में ही वह ऐसी व्यवस्था कर जाना चाहता है जिससे उसकी पत्नी को उसके बाद भी वह यौन-संतुष्टि न मिल सके, जो वह उसे अपने जीते-जी न दे सका। 'मैं जीवनभर पतिव्रत धर्म निभा कर ठगी जाती रही', यह बात यदि उसके मरने के बाद भी पत्नी द्वारा फैलाई गयी, तो मरणोपरान्त उसके यश में कमी आ जाएगी।

यह चिंता वास्तव में उसकी व्यक्तिगत-चिंता नहीं, पूरे पुरुष-समाज की चिंता है। पतिव्रत-धर्म के प्रति नारी की निष्ठा में कमी का होना, मरने वाले के बाद के बच रहे पुरुषों के लिए हानिप्रद है, इसलिए बाकी के बचे सारे पुरुष अवसान-प्राप्त पुरुष की पत्नी के हित की न सोच कर, अपने पुरुष-समाज की हित-रक्षा के लिए नारी की इच्छाओं का बलिदान कर देते हैं। धर्म की दुहाई देकर या किसी वसीयत की शर्त लगा कर, हर औसत पुरुष, जहाँ तक उसका बस चलता है, यह प्रबन्ध कर जाता है कि उसकी पत्नी या तो उसके पीछे सती हो जाए, दफ़ना दी जाए या वह किसी पुरुष को वैधानिक ढंग से न भोग सके।

नये समाज में नारी-सतीत्व की उतनी महिमा नहीं रही जितनी कुछ शताब्दियां-पूर्व थी। इस समाज का पुरुष प्रकटतः कुछ उदार-सा दिखता है। उदार इसलिए कि वह दो-तरफ़ा

चाल चलता है। एक ओर वह अपने यौन-स्वेच्छाचार पर रोक नहीं लगाना चाहता, दूसरी ओर वह नर-नारी-समता का दम भी भरता है।

तथाकथित-समतावादी युग का औसत-पुरुष चूँकि अपने स्वेच्छाचार पर रोक नहीं लगा सकता, इसलिए नारी से सतीत्व की माँग करते समय उसके लहजे में वह आग्रह नहीं आ सकता, जो पहले के औसत-पुरुष के लहजे में आ सकता था। ऊपर से इस मामले में चाहे वह कितना उदार दिखे, लेकिन भीतर से उसकी यह कामना होती है कि उसकी भार्या के सामने यौन-सहकर्मी का जो चेहरा हो, वह एकमात्र उसी का हो।

वैसे पत्नी भी पति से एक-पत्नी-व्रत की माँग करती है। उसकी माँग के पीछे यही शंका होती है कि कहीं उसके पति को (या प्रेमी को) दूसरी नारी से प्राप्त होने वाला यौन-सुख ज्ञात न हो जाए। यदि उसके यौन-सहकर्मी पुरुष को उससे प्राप्त होने वाले सुख से अधिक यौन-सुख किसी अन्य नारी से प्राप्त हो गया, तो हो सकता है कि वह पुरुष उससे विमुख हो जाए। इसलिए उसका स्वभाव इस मामले में शंकित हो जाता है। वह अपने पति को पर-नारियों के संसर्ग से बचाने की चेष्टा करती है, लेकिन उसकी सामाजिक-स्थिति इस योग्य नहीं होती कि वह अपनी चाह के मुताबिक पुरुष को ढाल सके। जब वह अपनी इस चेष्टा में विफल रहती है तो `डाह` की अभ्यस्त बनकर स्व-पुरुष के आसपास पर-नारियों के आने-जाने पर रुकावट लगाना चाहती। वह अपनी उस चेष्टा में सफल होती है या विफल यह अलग बात है।

....

प्रकरण — १०

यौन-आकर्षण के मूलाधार

— आकर्षण के मूल-तत्त्व

— फैशन का आधार

— त्वचा-वर्ण और दृक्-अनुभूति

आकर्षण के मूल तत्त्व

जीव भौतिक-तत्त्वों का पुंज है। जीव रूपी जिस इकाई में जिस तत्त्व की कमी होती है, उसी की पूर्ति के लिए वह उस दूसरी इकाई की ओर आकृष्ट होता है, जिसमें उस तत्त्व की अधिकता हो।

सृष्टि-रचना-युग के प्रथम चरण में कुछ इकाइयों में तेज-गुण की अधिकता हो गयी होगी और कुछ में सोम गुण की। तेज-गुण-प्रधान इकाई अपने मूल-अणु को अपने में रख सकने में असमर्थ हुई होगी। उससे उसकी शारीरिक-संरचना विक्षेप-शील ढंग की बन गयी होगी। सोम-गुण-प्रधान इकाई में उस मूल-अणु के रहने और पनपने के लिए वातावरण अधिक उपयुक्त रहा होगा। उसका शारीरिक गठन ग्रहणशील बन गया होगा। एक ही योनि की दो भिन्न-गुण-प्रधान इकाइयों के अंगों की एक-दूसरे के लिए पूरक ढंग की संरचना उनके लिए परस्पर आकर्षण का कारण बनी होगी। विक्षेप-शील और ग्रहण-शील -- इन दो भिन्न प्रणालियों ने नर और मादा नामी दो जीवों के शारीरिक गठन में बुनियादी फ़र्क डाल दिया होगा, लेकिन वह फ़र्क शुरू में बहुत अस्पष्ट रहा होगा। उन दोनों के कार्यक्षेत्र अलग-अलग हो जाने के कारण वह फ़र्क बाद में अधिक स्पष्ट होता चला गया होगा।

पेडू में स्थित गर्भाशय और नाभि से ऊपर दुग्ध भण्डार की विद्यमानता ने नारी की रूपरेखा को पुरुष की रूपरेखा से भिन्न आकार दिया होगा और पुरुष के रग-कौशल

और श्रम-साधन ने उसके कन्धे चौड़े करने और माँस, पेशियाँ, अस्थियाँ आदि कठोर बनाने में मदद की होगी। नर और नारी के मल-अनुकूलन के माध्यम अलग-अलग हो जाने के कारण, उनके शरीर की रोमावली में भेद पड़ गया होगा।

घनी रोमावली से भरे कठोर शरीरधारी के लिए विरल-रोमावली-युक्त कोमल-शरीर उत्सुकता की वस्तु रहा होगा और कोमल शरीरधारी के लिए कठोर शरीर जिज्ञासा की वस्तु बना होगा। उत्सुकता या जिज्ञासा उन्हें निकट लाने का कारण बनी होगी। निकट से निकटतम होते हुए तेज और सोम, इन दोनों गुण-प्रधान इकाइयों को एक नवीन अनुभूति हुई होगी। वह अनुभूति उनके लिए सुखद रही होगी। फलत: कोमलांगिनी को अपने कठोर अंक में भर लेने के लिए पुरुष बेताब हुआ होगा और कठोरांगी-पुरुष की अंक-शायिनी बनने में नारी को असीम सुख मिला होगा। अपने जिन-जिन विषम-गुणों के कारण वे एक-दूसरे के लिए प्राप्तव्य बने होंगे, उन गुणों का विकास करने और उस विकास को पराकाष्ठा तक पहुँचाने की चेष्टा करते हुए नर और मादा, दोनों की रूप-रेखा एक-दूसरे से बिलकुल अलग हो गयी होगी।

....

फैशन का आधार

फ़ैशन का शाब्दिक अर्थ है — लोक-रीति । हर क्षेत्र, प्रदेश या देश की अपनी लोक-रीति होती है ; लेकिन यहाँ फ़ैशन का आशय यौनाकर्षण-विकास से सम्बन्धित लोक-रीति से है ।

कोई भी फ़ैशन निराधार नहीं चलता । हर फैशन मानों शरीर की मूल-आवश्यकताओं का अनुमोदन करता दिखाई देता है । नारी-सौन्दर्य के विकास के लिए प्रचलित सभी फ़ैशनों की तह में नारी का मातृत्व गुण है । वक्ष-स्थल और नितम्ब की पुष्टता, ये नारी के मातृत्व-गुण के बाह्य-चिन्ह हैं । मातृत्व-गुण का तीसरा चिन्ह आगे को निकला हुआ पेट भी होता है, लेकिन जहां वक्ष और नितम्ब की पुष्टता नारी के आकर्षण का कारण बनती है, वहां नारी के विशालोदर होने की विशेषता उसके विकर्षण का कारण समझी जाती है । उसका कारण शायद यह है कि गर्भवती होना नारी का सामयिक लक्षण है । आज जो नारी सगर्भा है, कल वही विगर्भा होती है । नारी का गर्भिणी रूप और गर्भ-हीनता की अवस्था, पुरुष के सामने थोड़े-थोड़े काल के बाद रहती है, लेकिन उसके नितम्ब-प्रदेश और वक्ष-स्थल की एकरूपता पर उसका प्रभाव बहुत कम पड़ता है । गोया बिना पुष्ट-नितम्ब और बिना पुष्ट-वक्ष की नारी की पुरुष कल्पना नहीं कर सकता, लेकिन गर्भ की अवस्था और गर्भ-हीनता की अवस्था में पेट की जो भिन्न स्थितियां बनती हैं, पुरुष

 यदि चाहे तो दोनों रूपों में से किसी एक रूप को कम या अधिक

पसन्द कर सकता है । उन दोनों अवस्थाओं में पुरुष को नारी की गर्भ-हीनता की मन्दोदर-अवस्था अधिक भली लगती है ।

पुरुष की दृक्-अनुभूति के लिए नारी की मन्दोदर अवस्था के मनोरम लगने के कुछ कारण हैं । एक यह कि जिस नारी में भ्रूण पल रहा हो,वह पुरुष की यौन-सहयोगिनी बनने में उतनी क्रियाशीलता नहीं दिखा सकती जितनी विगर्भा नारी दिखा सकती है । नारी का वह रूप, जो यौन-सहयोगी बनने के लिए अधिक उपयुक्त हो, पुरुष की निगाहों में अधिक खुब सकता है । दूसरे, यह कि पेट के घटे रूप में वक्ष और नितम्ब की पुष्टता अधिक उजागर होती है ।

जनसंख्या के विस्तार की समस्या के कारण अब मातृत्व नारी के लिए अनिवार्य गुण नहीं रहा, लेकिन मातृत्व के कारण-अंगों के विकास के प्रयत्न जारी हैं । गर्भाशय में भ्रूण का विकास हो रहा हो या न, लेकिन उसका बाहरी घेरा (नितम्ब-प्रदेश) गर्भवती के नितम्ब जैसा बड़ा होना चाहिए । छाती में दूध हो या न हो, लेकिन दुग्ध-घटों का आकार भरे-पूरे दुग्ध-घट से कम न होना चाहिए ।

नारी के फैशनों की दिशा निश्चित् करने वाली प्रेरक-शक्ति पुरुष है, जैसे कि पहले चर्चा हुई है कि पुरुष स्वयं अपेक्षाकृत सपाट शरीरधारी होता है, इसलिए सपाट शरीर के प्रति उस की आसक्ति नहीं होती । वह सपाट से अलग किस्म के शरीर के प्रति आकृष्ट होता है । जिसका फल यह होता है कि नारी सपाट से विपरीत गुण को पराकाष्ठा तक पहुँचाना अपना ध्येय समझ लेती है ।

जिस प्रकार पुरुष की पसन्द नारी के फ़ैशनों की दिशा-निर्देश करती है उसी प्रकार नारी की पसन्द पुरुष के

फ़ैशनों की भी दिशा निश्चित कर सकती है, लेकिन नारी को पुरुष-सौन्दर्य के बारे में खुलकर अपनी राय देने का अवसर नहीं मिलता । पुरुष शत्रुओं को हरा कर नारी का हरण कर लाए या स्वयंबर में जीत कर लाए या अपनी सम्पत्ति, वंश अथवा पद का रोब गाँठ कर ले आए, नारी को उसे पसन्द करना पड़ता है । यदि वह पसन्द न करे तो भी वह अपनी अनिच्छा को खुल कर प्रकट नहीं कर सकती ।

पुरुष ने किसी भी तरीके से नारी को पाया हो, वह अपने कब्ज़े में आयी नारी का हृदयेश्वर बनने की कामना अवश्य करता है । वह यह हर्गिज नहीं सुन सकता कि दूसरा पुरुष आकर्षण के मामले में उससे अधिक श्रेष्ठ है । यदि एक पुरुष की आश्रिता नारी,अन्य पुरुष के यौनाकर्षण की प्रशंसा करती है तो उसका आश्रयदाता पुरुष ऐसी नारी को शंका की दृष्टि से देखने लगता है । अत: विदुषी-नारी पुरुष-सौन्दर्य के बारे में अपनी बेलाग राय को दबाए रखने में अपना कल्याण अधिक समझती है और नारी की यह चुप्पी पुरुष को अपने मानक-सौन्दर्य का ज्ञान नहीं होने देती । पुरुष अपने तौर पर अपने में यौनाकर्षण के लक्षणों की खोजबीन करता रहता है । इस खोजबीन से उसे ज्ञात होता है कि उसके चेहरे पर बालों का होना उसके यौनाकर्षण के लिए आवश्यक है ; लेकिन वे बाल कटे होने चाहिएं, अध कटे या बिना कटे, इस बारे में नारी के एकमत होने का प्रमाण उसे नहीं मिलता । इस मतैक्यहीनता की अवस्था के कारण पुरुष कभी अपने चेहरे के बाल पूरे रख लेता है, कभी आधे । कभी दाढ़ी रख लेता है, मूँछे कटा देता है, कभी मूँछे रहने देता है, दाढ़ी का सफ़ाया कर देता है, कभी दोनों को साफ़ करा लेता है ।

हां, पुरुषोचित सौन्दर्य की एक विशेषता जो कवियों तक ने कही है, वह है उसका वीरोचित-विशाल-स्कन्ध ।

विशाल-स्कन्ध की प्रतिष्ठा तब की देन है, जब प्रत्येक पुरुष के लिए सैनिक होना आवश्यक था । युद्ध में लड़ते रहने या युद्ध के लिए पूर्वाभ्यास करते रहने से पुरुष के कन्धे स्वत: चौड़े हो जाते थे । लेकिन आज, जब कि युद्ध की जिम्मेवारी वेतन-भोगी सैनिकों के जिम्मे आ गयी है, प्रत्येक व्यक्ति को उस कला में प्रवीण होने की आवश्यकता नहीं रही । फिर भी पुरुष के चौड़े कन्धों की प्रतिष्ठा आज भी है । जिस प्रकार हीन-नितम्बिनी नारी कूल्हों पर पैड लगवा कर अपने आपको विकट-नितम्बिनी बना लेती है, उसी प्रकार हीन-स्कन्ध वाले पुरुष अपने कन्धों को वीरोचित बनाने के लिए कोट सिलवाते वक्त उसमें पैड भरवा लेते ।

स्त्री-कवियों द्वारा पुरुष के नख-शिख वर्णन का रिवाज समाज में प्रचलित नहीं है, इसलिए पुरुष अपने मानक-सौन्दर्य से अनजान है, छिट-पुटे रूप में उसे जो जानकारी नारी से प्राप्त होती है, उसी के आधार पर कुछ अटकल लगा कर, वह किसी का हृदयेश्वर बनते रहने की चेष्टा करता रहता है । लेकिन नारी सौन्दर्य के बारे में पुरुष की राय कई विधाओं में द्वारा खुल कर प्रकट हुई है । कवियों द्वारा साहित्य में, मूर्तिकारों द्वारा प्रस्तर-प्रतिमाओं में और वैरागियों द्वारा नारी-निन्दा के प्रकरणों में, नारी सौन्दर्य का मानक रूप स्पष्ट होता है । कदली-खम्भ के समान चिकनी जाँघें, कलश के सदृश्य भरे हुए कुच और सितार की तूम्बी के समान विशाल नितम्ब, नितम्ब और वक्ष के बीच का संयोजक अंग, कमर इतनी क्षीण कि अणुवीक्षण यंत्र के बिना दिखाई ही न दे — नारी सौन्दर्य के बारे में अतिशयोक्तियों से भरे इस प्रकार के मतैक्य के होते हुए नारी अपने सौन्दर्य के प्रति बेखबर हो भी कैसे सकती है!

यहां नारी सौन्दर्य के जिस मानकरूप का चित्रण हुआ है, वह यदि सार्वजनिक न भी हो, बहुदेशीय अवश्य है। इसके अलावा नारी-सौन्दर्य के कुछ स्थानिक मान भी हैं। विविधता-मय इस संसार में कुछ कबीले ऐसे भी हैं जहाँ पतली कमर की बजाय विशालोदर की अधिक प्रतिष्ठा है। उन्नत स्तनों की बजाय ढलकती हुई छातियों के चाहने वाले भी विश्व के किसी-न-किसी भाग में बसते हैं। ऐसे स्थानिक-फ़ैशन उन समाजों में प्रतिष्ठित होते हैं जहाँ लिखित-साहित्य का अभाव होता है या जिन जातियों का दूसरी जातियों से मेल-जोल नहीं होता। अपने छोटे से समाज की आवश्यकताओं के अनुसार वे नारी के सौन्दर्य के सम्बन्ध में अपनी धारणाएं बना लेते हैं। उन धारणाओं की उनके छोटे से समाज से बाहर के बृहत्तर समाज में कितनी प्रतिष्ठा है, यह जानने की उन्हें चिंता नहीं होती। चिंता हो भी क्यों। वहां की नारी के अपने कबीले का छबीला युवक,विशालोदर और ढलके-कुचों को देखकर मर-मिटने को अगर तैयार है तो उस कबीले से बाहर की दुनिया की परवाह वह करे भी तो क्यों ?

पुराने चीन में स्त्रियों के पैरों का अत्यन्त छोटा होना भी सौन्दर्य का स्थानिक गुण था। उस रिवाज के पीछे शायद नितम्ब के उभार को अधिक स्पष्ट करना अभीष्ट होगा। छोटे से पाँव विशाल-शरीर के भार को संतुलित रख सकने में असमर्थ होते होंगे। उस असन्तुलन के कारण कमर की लचक और नितम्ब की लहक अधिक स्पष्ट हो जाती होगी। जान पड़ता है कि नारी की चाल में वैसी लचक और लहक लाने के लिए,छोटे पाँव के पर्याय के रूप शायद पश्चिमी-पुरुष ने, अपने हां की नारी के पैरों के लिए ऊंची और नुकीली एड़ी के जूते का आविष्कार किया होगा।

त्वचा-वर्ण और दृक्-अनुभूति

इससे पहले एक प्रकरण में कहा गया है — 'प्रगाढ़ स्पर्श सुख ही यौन-सुख है । अंतरंग द्वारा अंतरंग को सहलाए जाने में उस सुख की पराकाष्ठा है ।'

यह त्वक्-अनुभूति की बात थी । दृक्-अनुभूति से संबंधित इस प्रकरण में हम अपनी बात इन शब्दों में कहेंगे —

'मानव शरीर के अंतरंग का साक्षात्कार दृक्-अनुभूति के लिए सुखद है । दृक्-अनुभूति के लिए जो सुखद है, वह आकर्षक है।'

ऐसा कोई उपाय, जो त्वचा की आड़ में छुपे रक्तिम-शरीर का आभास दे सके, वह यौनाकर्षण-वर्द्धक उपाय बन सकता है । सौन्दर्य-वर्द्धक सभी प्रसाधन, शरीर की रक्तिम-आभा को झलकाने या उस आभा की नक़ल प्रस्तुत करने में सहायता देते हैं । नर और नारी की अपने अन्य-लिंगीय व्यक्तियों के उन अंगों के प्रति विशेष आकृष्टि होती, जिन अंगों से रक्तिम-आभा अधिक झलकती है ।

सहजता से दिखाई देने वाला मानव शरीर का सबसे अधिक रक्तिम-अंग ओंठ है । जब दो विषम लिंगीय-व्यक्तियों को एक-दूसरे के स्पर्श का अवसर मिलता है तो वे एक-दूसरे के होंठों को चूमने की चेष्टा करते हैं । जिनके होंठों में लालिमा कम होती है,वे कृत्रिम-साधनों द्वारा यह कमी पूरी करते हैं ।

अब त्वचा-वर्ण पर विचार होना है । हम देखते हैं कि समाज में गौर-वर्ण की प्रतिष्ठा कृष्णा-वर्ण से अधिक है । बुद्धि -

फरोशी के व्यापार से सम्बन्धित लेख पढ़ने से ज्ञात होता है कि चाहे अरब के शेख़ हों या अफ्रीकी कबीलों के साधन-सम्पन्न हबशी-सरदार, वे अपने हरम के लिए लड़कियों की खरीद करते समय काली लड़कियों की अपेक्षा गोरी लड़कियों का दाम ज्यादा डालने को तैयार रहते हैं ।

गौर-वर्ण की प्रतिष्ठा के पीछे वही अंतरंग साक्षात्कार की कामना है ।

शरीर-रचना-विज्ञान का हर विद्यार्थी जानता है कि त्वचा-वर्ण के नियामक कुछ कोष होते हैं जिन्हें रंजक-कोष (पिग-मैंटेशन सैल्ज़) कहा जाता है । यदि वे कोष त्वचा की पर्तों में न हों या विघन हों तो त्वचा पारभासक रहती है । उस पारभासक त्वचा में से शरीर की भीतरी रक्तिम-आभा झलती रहती है । यदि रंजक-कोष त्वचा की पर्तों में घने हों तो त्वचा पार-विभासक बन जाती है । रक्तिम आभा, उस पार-विभासक त्वचा में से नहीं झलक सकती । फलत: व्यक्ति काला या गेहुआँ दिखाई देने लगता है ।

रंजक-कोषों के त्वचा में होने या न होने के कारण अनेक हैं । उन अनेक कारणों में सौर-प्रकाश मुख्य है । वंश सूत्र, आहार आदि अन्य कारण भी होते हैं, लेकिन वे गौण हैं । उन गौण कारणों के पीछे भी कहीं-न-कहीं सौर-प्रकाश की भूमिका रहती है ।

शरीर के भीतरी-संस्थान के लिए सूर्य का प्रकाश जितना जाना अनुकूल होता है, उससे अधिक यदि चला जाए तो वह प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न करता है । अत: जिस वर्ग या जिस प्रदेश के लोगों को नंगे बदन धूप में काम करना पड़ता है, उनकी रंजक-कोष-निर्मात्री-ग्रंथियों को अधिक सक्रिय हो जाना पड़ता है ताकि त्वचा में से छन कर उतना ही प्रकाश भीतर जाए जो प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न न

करे। ठंडे-प्रदेशों में, जहाँ सूर्य का प्रकाश अपेक्षाकृत कम तीखा होता है और भारी कपड़े पहनने के कारण, जितना होता है उतना भी त्वचा तक नहीं पहुँच पाता, वहाँ के निवासियों की रंजक-कोष-निर्मात्री-ग्रंथियाँ निष्क्रिय-प्राय रहती हैं।

वर्ण-नियामक इन ग्रंथियों का मानव की सौन्दर्यानुभूति से कोई वास्ता नहीं होता। शारीरिक-संस्थान को प्रतिकूल स्थिति से बचाने के लिए वे चेष्टा करती हैं और उनकी चेष्टा के फलस्वरूप मानव को गोरी, पीली या काली चमड़ी का धारक बनना पड़ता है, लेकिन सौन्दर्यानुभूति को वर्ण-नियामक ग्रंथियों का फ़ैसला हर दफे पसन्द नहीं आता। यह ठीक है कि श्याम और गौर-वर्ण पर मानव का अधिकार नहीं होता, लेकिन उन कृत्रिम-साधनों पर उसका अधिकार है, जिनसे बनावटी रक्तिम-आभा उसके शरीर से झलक सके।

....

प्रकरण — ११

मैथुन का मानक-रूप और अ-मानक मैथुन

— स्वाभाविक-मैथुन और
  अस्वाभाविक-मैथुन
— मैथुन के मानक-रूप की
  आवश्यकता
— सम-लिंग-गमन
— हस्त-मैथुन
— प्रतीक-मैथुन, पशु-मैथुन

स्वाभाविक-मैथुन और अस्वाभाविक-मैथुन

अतिरिक्त शक्ति जब सघनता की एक विशेष सीमा को लाँघ जाती है तो विसर्जन का मार्ग खोजती है। उस खोज का नाम `यौन-चेतना` रख लिया जाता है। यौन-चेतना के जागृत होने के उस काल में उस उत्तेजना से मुक्ति पाने का जिस व्यक्ति को जो उपाय सूझ जाता है, वह व्यक्ति उस उपाय का अभ्यस्त बन जाता है ; लेकिन यौनत्तेजना-शमन के वे सभी उपाय समाज में मान्य नहीं समझे जाते। जिन क्रियाओं पर समाज अपनी स्वीकृति दे देता है, उन्हें स्वाभाविक, शेष को अस्वाभाविक मान लिया जाता है।

मैथुन-विधि के साथ `स्वाभाविक` और `अस्वाभाविक` शब्दों का प्रयोग यौन-विषय की पुरानी पुस्तकों में हुआ है। नये यौन-विज्ञान के अनुसार यौनोत्तेजना से मुक्ति पाने की दिशा में ऐसी कोई भी क्रिया अस्वाभाविक नहीं समझी जाती, जिसे दो यौन-सहकर्मी पारस्परिक यौन-सुख के लिए आवश्यक समझते हैं।

अपनी पसन्द की किसी भी प्रकार की यौन प्रक्रिया द्वारा यदि दो इकाईयां संतुष्टि प्राप्त करती हैं तो समाज आमतौर पर उन दोनों के सुख में बाधा नहीं डालता। वह इसलिए कि जब दो इकाईयां सचमुच आपस में सुख प्राप्त करती हैं तो उनकी बात समाज के कानों तक नहीं पहुँचती। जब समाज के कानों तक शिकायत नहीं पहुँचती तो बाधा पड़ने का सवाल नहीं उठता। समाज के कानों में बात तो तब पहुँचती है जब उन दो इकाईयों में से किसी एक का शोषण होता है या उन दोनों की सुख प्राप्ति से

किसी तीसरे का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अहित होता है । उस समय समाज को उन दो इकाईयों के सुख में बाधा डालने के लिए दख़ल देना पड़ता है । उस समय समाज पक्ष उस इकाई का नहीं लेता जिसे सुख मिला, बल्कि उसका लेता है जिसे असुख की स्थिति में से गुज़रना पड़ा ।

कौन शोषक है और कौन शोषित, इस बात का फैसला करना समाज के लिए भी तब तक कठिन होता है, जब तक यौनोत्तेजना से निवृत्ति पाने का कोई मानक उपाय निश्चित न हुआ हो। मैथुन की किसी एक विधि को मान्यता दे कर ही वह अन्य विधियों को अमान्य ठहरा सकता है ।

नर-नारी समागम के अतिरिक्त और किसी भी मैथुन - पद्धति को साधारणत: समाज में मान्यता नहीं मिलती । इस मैथुन-पद्धति को मान्यता क्यों मिली और अन्य को क्यों न मिल सकी, यही इस प्रकरण का विषय है ।

....

मैथुन के मानक-रूप की आवश्यकता

हर व्यक्ति की इच्छा होती है कि उसकी यौन-रुचि को पैमाना मान कर अन्य सब व्यक्तियों के यौन-व्यवहारों को उसी पैमाने के आधार पर परख कर मान्य-अमान्य का विचार किया जाए। यदि वह स्वयं पशु-गामी है, हस्त-मैथुनाभ्यस्त है, विपरीत-योनि-मैथुन का समर्थक है या समलिंग गामी है, तो वह अपनी यौनोत्तेजना-शमन-पद्धति का औचित्य सिद्ध करने के लिए कई संहिताओं के हवाले दे सकता है ; लेकिन समाज हर व्यक्ति की रुचि और सुविधा के अनुसार अपने नियमों में फेर-वदल नहीं कर सकता ।

मैथुन का मानक-रूप एक ही प्रतिष्ठित किया जा सकता है। उस मानक रूप को प्रतिष्ठा देने से पहले,उससे सम्वद्ध सभी समस्याओं और समाज की सभी आवश्यकताओं पर समाज को विचार करना पड़ता है।एक बार मनन, चिन्तन के बाद जो मानक रूप स्थिर हो जाता है, उसकी रक्षा के लिए बाद में समाज को रूढ़ होना पड़ता है,ताकि अपनी सामयिक-सुविधा के लिए लोग उस मानक-रूप को विकृत न कर सकें ।

मानक-रूप स्थिर करना और फिर उस रूप की रक्षा के लिए कटिबद्ध रहना, केवल यौन-क्षेत्र के लिए ही आवश्यक नहीं।जीवन के हर क्षेत्र में `मानक` की रक्षा के लिए विधान रचे जाते हैं ।

एक यौनेतर क्षेत्र का उदाहरण लेते हैं —

हर राष्ट्र का अपना राष्ट्रीय-ध्वज होता है । भारत का राष्ट्रीय-ध्वज `तिरंगा` है । आम बोलचाल में `तिरंगा-झंडा` कह देना काफी हो सकता है ; लेकिन `फ्लैग-कोड-इंडिया` में जहां तिरंगा लिखा है, वहां यह विवरण भी साथ ही लिखा गया है कि उसके तीनों रंगों की पट्टियां बराबर-बराबर चौड़ाई की

होनी चाहिएं । तीनों रंगों की पट्टियों के क्रम को अपनी इच्छानुसार ऊपर-नीचे करने का अधिकार भी किसी को नहीं । नारंगी-रंग की पट्टी सबसे ऊपर होनी चाहिए, सफेद बीच में और हरे रंग की सबसे नीचे हो । झंडे की लम्बाई-चौड़ाई भी हर व्यक्ति अपनी मर्ज़ी से नहीं रख सकता । चौड़ाई से लम्बाई ठीक ड्योढ़ी होनी चाहिए । उसकी सफेद पट्टी के केन्द्र में अशोक चक्र होना चाहिए । अशोक-चक्र का रंग समुद्री-नीला हो और उस चक्र की फाँके गिनी हुई ठीक चौबीस हों ।

यदि कोई सुविधा-प्रेमी झंडे की लम्बाई-चौड़ाई में फेर-बदल करना चाहे या अशोक-चक्र का रंग बदलना चाहे या उस चक्र की फाँकें चौबीस की बजाय तेईस या पच्चीस रखना चाहे तो उसका यह कार्य अपराध मान लिया जाएगा और कानून उसे दंडित भी करेगा । हो सकता है कि सुविधा प्रेमी की निगाह में ये नियम बेकार हों, लेकिन राष्ट्र की निगाह में वे नियम भी उतने ही आवश्यक हैं, जितना कि झंडा । हर व्यक्ति की रुचि और पसन्द पर यदि झंडे की रूप-रेखा की रचना छोड़ दी जाए तो झंडे के मानक-रूप की रक्षा नहीं हो सकती ।

अनियमितता को रोकने के लिए कोई एक नियम प्रतिष्ठित करना ज़रूरी होता है । बिना कोई नियम प्रतिष्ठित किए समाज के लिए यह फैसला करना कठिन होता है कि क्या नियमपूर्वक है और क्या नियम-विरुद्ध है ?

मैथुन के बारे में भी नियमित-अनियमित, नैतिक-अनैतिक, स्वाभाविक-अस्वाभाविक व उचित-अनुचित का निर्णय तब तक नहीं हो सकता, जब तक मैथुन का एक मानक-रूप स्थिर न हो जाए । कुछ असामान्य व्यक्ति यौन-क्षेत्र में समाज का दख़ल सहन नहीं करना चाहते । वे व्यक्ति विविधतामय संसार का एक अंग बेशक हैं, लेकिन

वे व्यक्ति समाज का आदर्श नहीं बन सकते । उन सब की रुचियों को कम्पास समझ कर पूरी मानव जाति के यौन-व्यवहारों को उनके अनुसार निर्देशित नहीं किया जा सकता । कम्पास तो उसी एक मानक-रूप को समझा जा सकता है, जिसे स्थिर करने से पहले उससे सम्बन्धित सभी वैयक्तिक-हित के और सामाजिक-हित के पहलुओं पर भली-भाँति विचार कर लिया गया हो । सामाजिक-दृष्टिकोण से मानक-मैथुन वही हो सकता है जिससे सामाजिक-गठन व्यापक हो सके और जाति-सम्वर्द्धन होता रहे ।

वैयक्तिक-दृष्टिकोण से मैथुन का मानक-प्रकार वही हो सकता है, जिससे अत्यन्त तीव्र यौन-अनुभूति मिल सके । इन दोनों दृष्टिकोणों को सामने रखते हुए मैथुन की मानक विधि पर विचार करना है ।

यौन-समस्या व्यक्तिगत समस्या नहीं है । ऐसी कोई भी क्रिया, जिसकी पूर्णता के लिए दूसरे की आवश्यकता पड़ती है, या दूसरे पर उस क्रिया का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ता है, वह वैयक्तिक नहीं रहती, सामाजिक हो जाती है[१] ।

यौनोत्तेजना के शमन के लिए मानव को अपने घेरे से निकल कर दूसरे के घेरे में प्रवेश करना पड़ता है या दूसरे को अपने घेरे में आमंत्रित करना पड़ता है । उन दोनों का एक-दूसरे के जीवन पर प्रभाव पड़ता है । उन दोनों के मिलन का समाज के दूसरे सदस्यों पर भी प्रभाव पड़ता है ।

सामाजिक-घेरे को अधिक विस्तृत करने के लिए, समाज की

---

१. विवरण इस पुस्तक के शीर्षक —
` यौन-प्रवृत्ति पर ही अधिक प्रतिबंध क्यों ? `... के अन्तर्गत

दूरस्थ इकाईयों को एक-दूसरे के निकट लाने के लिए, विवाह या उससे मिलते-जुलते किसी अनुबन्ध की आवश्यकता होती है । यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी मनपसन्द-पद्धति से अपने हाथ से, या अपने मवेशियों से, या सम-लिंगी-इकाईयों से अपनी उत्तेजना-शांत कर ले तो दूरस्थ इकाईयों को निकट लाने का आधार नहीं मिल सकता ।

पुरुष का पुरुष के साथ विवाह होना अरस्तू-युग में यूनान में प्रचलित था । (स्त्री के साथ स्त्री के विवाह की चर्चा का प्रसंग पढ़ने-सुनने में नहीं आया) लेकिन वह पद्धति विश्व भर में न चल पाई, बल्कि उसी यूनान में भी कुछ देर के बाद खत्म हो गयी । वह इसलिए कि उसमें मानक होने के वे सारे गुण विद्यमान नहीं थे जो विपरीत-योनि मैथुन में है ।

`जाति सम्वर्द्धन` भी एक उद्देश्य है जिससे समाज फलता-फूलता रहता है । यह उद्देश्य भी सिवाय नर-मादा मैथुन के और किसी तरीके से पूरा नहीं हो सकता ।

सामाजिक-पहलू के साथ-साथ वैयक्तिक-सुख के पहलू को भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता । वैयक्तिक-आवश्यकता को सामने रखते हुए मानक-मैथुन वही हो सकता है जिससे प्रगाढ़-स्पर्श-सुख की अनुभूति अत्यन्त तीव्र हो सकती हो ।

विपरीत-योनि-मैथुन से त्वक-अनुभूति जितनी तीव्र हो सकती है, अन्य किसी भी मैथुन-विधि से नहीं हो सकती । एक ही योनि के नर और मादा का अपने अपने युवसुलभ गुणों को पराकाष्ठा तक पहुँचाने का एकमात्र ध्येय उस तीव्र को तीव्रतम बनाना होता है ।

विषम-गुणों के प्रति आकर्षण होने के कारणों पर पिछले प्रकरण[१] में विचार हुआ है । यह विषमता इतनी जरूरी

१. देखें `यौन-आकर्षण के मूलाधार ।`

है कि समयौनाभ्यस्त व्यक्ति भी उस विषमता की बिल्कुल उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि वह वातावरण की प्रेरणावश या अपने किसी मानसिक-भय के कारण समयौनगामी बनता भी है, तो उसे चेतना इतना अवश्य बता देती है कि उसे अपना यौन-सहयोगी चुनने के लिए अपने समलिंगियों में से किन विशेषताओं से युक्त व्यक्ति को चुनना है।

हर पुरुष के कुछ नारी-सुलभ-गुण (सोम-गुण) हर नारी में कुछ पुरुष-सुलभ-गुण (तेज गुण) होते हैं। उन गुणों के अतिरेक के कारण उनकी शारीरिक रूपरेखा में परिवर्तन दिखाई देता है। आकर्षण के इन मूल तत्त्वों की पारिभाषिक-शब्दावली से व्यक्ति परिचित हो या नहीं, लेकिन हर व्यक्ति समाज में विचरण करते हुए इन गुणों को जानता, समझता है। समलिंग-गामी, जो अ-मानक मैथुन की एक विधि का अभ्यस्त होता है, इन मूल तत्त्वों से अपने आपको कितना ही अनजान सिद्ध कर ले, लेकिन जहां तक उसका अपना बस चलता है वह अपने से विपरीत-गुण-प्रधान समलिंगी को ही अपना यौन-पूरक चुनता है। दो समलिंग गामियों में आमतौर पर एक में सोम-गुण की, दूसरे में तेज-गुण की प्रधानता होती है और उन दोनों में कर्ता आमतौर पर तेज-गुण-प्रधान और कारयिता सोम-गुण-प्रधान होता है।

इस विवरण से आशय यह व्यक्त करना है कि अत्यंत तीव्र-अनुभूति के लिए विषमता आवश्यक है। उस अनुभूति को तीव्र से तीव्रतम बनाने के लिए विषमता के विकास की आवश्यकता पड़ती है। नर और नारी नाम की जो दो इकाईयां अनन्त काल से अपने-अपने गुणों का विकास करने में लगी हुई हैं, उनके मिलन से प्राप्त होने वाला सुख ही आत्यंतिक-सुख बन सकता है, अतः वैयक्तिक-सुख के दृष्टिकोण से भी विपरीत-

योनि-मैथुन ही मानक-मैथुन बन सकता है ।

मैथुन की एक विधि के मानक सिद्ध होते ही, उस विधि से अलग मैथुन के सभी प्रकार स्वत: ही अमानक हो जाते हैं । मानक की प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए आवश्यक होता है कि अ-मानक को निरुत्साहित किया जाए ।

●

....

सम-लिंग-गमन

मैथुन की जिन विधियों को सामाजिक मान्यता नहीं मिली, उनमें से 'सम-लिंग-गमन' भी एक है। यौनोत्तेजना के शमन के लिए नर का नर के प्रति तथा मादा का मादा के प्रति अग्रसर होना सम-लिंग-गमन कहलाता है।

सम-लिंग-गमन की आदत विश्व के सभी भागों में है। कहीं यह छिपे-छिपे प्रोत्साहन पाता है, कहीं अपेक्षाकृत खुले रूप में, लेकिन इस विधि को अब तक सामाजिक-प्रोत्साहन नहीं मिला।

कुछ लोगों के विचारानुसार समलैंगिकता पैतृक आदत है, लेकिन हमारे विचारानुसार ऐसा नहीं है। एक व्यक्ति सम-लिंग-गमन का अभ्यस्त बन गया, दूसरा न बन पाया, इसके कारणों की खोज में महत्त्वपूर्ण भूमिका उस वातावरण की होती है, जिस वातावरण में यौन-चेतना के जागरण काल में मानव साँस लेता है। वातावरण के इलावा व्यक्ति की मानसिक-स्थिति का पर्येषण करना भी ज़रूरी होता है।

मिसाल के तौर पर एक लड़की अपनी सहेली से, पुरुष द्वारा किए जाने वाले बलात्कार की चर्चा सुन, पुरुष के क्रूर रूप से भयभीत होकर जीवन भर के लिए पुरुष-वर्ग से उदासीन हो जाती है। उस दशा में भी यौनोत्तेजना से मुक्ति उसे पानी होती है। वह अपनी किसी सहेली को अपना यौन-पूरक चुन लेती है।

कई बार पुरुष के प्रति उसके मन में भय का नहीं, आकर्षण का भाव होता है, लेकिन स्वयं अपने रूप के प्रति वह हीनता अनुभव कर रही होती है। वह समझती है कि उसमें इतना आकर्षण नहीं कि कोई पुरुष उसकी ओर लपक सके। उस दशा में वह सम-योनि पर निर्भर होने की अभ्यस्त बन जाती है।

अपने कामिनी-रूप से यदि वह जानकार हो भी जाए, तो भी किसी पुरुष से प्रणय-निवेदन का साहस न होने के कारण वह पुरुष से विमुख होकर सम-योनि के प्रति उन्मुख हो सकती है।

यदि वह स्वयं सम-योनि-गमन का रास्ता तलाश नहीं कर सकती तो उसके निकट-सम्पर्क की कोई दूसरी लड़की, अपनी उत्तेजना के शमन के लिए उसे अपनी राह पर ला सकती है।

यौन-चेतना काल में यौनोत्तेजना से मुक्ति पाने की किसी भी विधि को यदि वह सुख का साधन एक बार समझ लेती है तो अन्य साधनों के प्रति उसकी विमुखता बढ़ जाती है। एक राह पर चल पड़ने से अभ्यासी को उसके और भी लाभ सूझ जाते हैं। मसलन यह कि सम-लिंग-गमन से गर्भ ठहरने का भय नहीं रहता या सम-लिंगियों में विचरण करते रहने में 'मैथुन' क्रिया गुपचुप हो जाती है। विपरीत-लिंगियों में गमन करने से बदनामी की आशंका रहती है, इत्यादि।

समाज नर और नारी, दो श्रेणियों में बँटा हुआ है। ये दोनों श्रेणियाँ बिलकुल पास-पास रह कर भी एक-दूसरे से बहुत दूर होती हैं। हर किशोर अपने निकट की किशोरी से दूर होता है और दूरस्थ-किशोर को अपने से निकट पाता है। किशोर की यौन-समस्याओं को किशोर समझता है और किशोरी की समस्याओं को किशोरी समझती है।

जिस किस्म की अनुभूतियाँ उपर्युक्त समलिंग-गामी लड़की में होती हैं, उससे मिलती-जुलती यौन-अनुभूतियां नये यौन-चेतना-सम्पन्न किशोर के मन में भी होती है। किशोर और किशोरी के चिंतन में एक अन्तर अवश्य होता है कि जहाँ किशोरी पुरुष के क्रूर-मैथुन से डर कर सम-लिंग-गामिनी बनती है वहाँ किशोर किशोरी की कोमलता से भय खाता है। धान-पान सी सुकुमार किशोरी को वह मात्र देखने की या मात्र स्पर्श की वस्तु मानता है। उसके साथ और कुछ 'अप्रिय' क्रिया करने को उसका मन नहीं मानता।

असन्तुलित-धर्म-शिक्षाओं में नारी से दूर रहने के आदेश भी पुरुष के लिए सम-लिंग-गमन के कारण बन जाते हैं। उन धर्म ग्रंथों में विवाह न करने या नारी से दूर रहने की चेतावनी होती है, पुरुष से दूर रहने की कहीं कोई हिदायत नहीं होती। सम-लिंग-गमन के और भी कारण हो सकते हैं जो गिनाए नहीं जा सकते। उस अभ्यास के मुख्य कारण आमतौर पर ये समझे जा सकते हैं — 'विपरीत लिंग का अभाव (चाहे वह अभाव व्यक्ति की कल्पना में हो) या निकट सम्पर्क में सम-लिंग-गमन का अभ्यस्त अथवा किसी आदर्श सम-लिंग-गामी का अनुकरण, इन कारणों से व्यक्ति सम-लिंग-गमन का अभ्यास शुरू करता है। शुरू करने वाला मजबूरी की हालत में शुरू करता है, सुख मिलने पर उसका अभ्यस्त हो जाता है।

यौन-चेतना के उदय काल में व्यक्ति का यौन-जीवन जिस मार्ग पर ठेल दिया जाता है,वह उसी पर सरकता रहता है। वही मार्ग उसके लिए तब तक के लिए निश्चित् हो जाता है, जब तक उसे उस मार्ग से च्युत करने के लिए, उससे अधिक आनन्द का मार्ग नहीं मिल जाता।

समाज में बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं जो वर्तमान उपलब्धि से संतुष्ट नहीं होते। अधिक लाभ या अधिक सुख के लिए वे नये-नये परीक्षण करते रहते हैं, यदि वे अपना यौन-जीवन सम-लिंग-गामी के रूप में शुरू करते हैं तो वे उस मैथुन-पद्धति से तब तक काम चलाते हैं, जब तक उससे अधिक सुखदायक मैथुन से उनका साक्षात्कार नहीं हो पाता। उनके लिए सम-लिंग-गमन मानक-मैथुन की राह का एक पड़ाव होता है, लेकिन कुछ व्यक्ति किसी नये अनुभव का जोखिम नहीं उठाना चाहते। उन्हें एक बार यदि सम-लिंग-गमन में सुख प्राप्त हो जाता है तो वे मैथुन की उसी विधि को मंजिल समझ कर अन्य सभी विधियों की ओर से आँखें मूँद लेते हैं।

....

हस्त-मैथुन

क्षुधा-निवृत्ति के लिए आहार की ऐसी गोलियां बन चुकी हैं, जिनकी डिबिया अपने पास रख कर रसोई-घर की आवश्यकता से निजात पायी जा सकती है ; लेकिन उन गोलियों के आविष्कार के बावजूद आज के इंजीनियर नये मकानों का नक्शा बनाते समय रसोई-घर का स्थान ज़रूर रखते हैं । वह इसलिए कि जीवित रहने योग्य जीवन-तत्त्वों से भरी हुई ये सूक्ष्म-गोलियां 'स्थूल-आहार' का स्थान नहीं ले सकतीं । स्थूल-आहार को खाने, चबाने, पचाने और उसका मल-अंश विसर्जित करने के लिए शारीरिक-संस्थान को जितना क्रियाशील होना पड़ता है, उन गोलियों को पचाने के लिए उस संस्थान को उतना सक्रिय नहीं होना पड़ता । उन स्थानों के लिए ये गोलियां बेशक वरदान हैं, जहां स्थूल-आहार नहीं पहुँच सकता, लेकिन ये गोलियाँ सामान्य-भोजन का पूर्ण पर्याय नहीं बन सकतीं ।

हस्त-मैथुन की क्रिया मानक-मैथुन का अधूरा पर्याय तो बन सकती है, लेकिन मैथुन की जगह नहीं ले सकती । वह इसलिए कि मानक-मैथुन केवल एक अंग की क्रिया नहीं । उसमें पूरा शारीरिक-संस्थान, सारी इन्द्रियां भाग लेती हैं, इसलिए उससे जो संतुष्टि और तृप्ति मिलती है, वह हस्त-मैथुन से नहीं मिलती ।

हस्त-मैथुन मानक-विधि से अलग किस्म की विधि है, लेकिन इसका प्रचलन अन्य किसी भी मान्य या अ-मान्य विधि से अधिक है । उस प्रचलन का कारण कुछ वे सुविधाएं हैं जो अन्य किसी मैथुन के

साथ नहीं है । मानक-मैथुन के लिए सामाजिक आज्ञा विवाहोपरान्त मिलती है । विवाह के साथ कई जिम्मेवारियाँ आती हैं । अन्य सामाजिक-जिम्मेवारियों के साथ-साथ अपने यौन-साथी को पहले मैथुन के लिए प्रवृत्त करना, बाद में उसे तृप्त करना पड़ता है । वेश्या-गमन, पर-पुरुष-गमन तथा परस्त्री-गमन में बदनामी और बीमारियों का भय रहता है । सम-लिंग-गमन और पशुगमन में सामाजिक भर्त्सना और ग्लानि का भय रहता है । उन सबके मुकाबिले में हस्त-मैथुन, एक ऐसी घुली-घुलाई उत्तेजना-शमन-विधि है, जो जब, जहाँ जी चाहे, बिना किसी को राज़दार बनाए अपनाई जा सकती है ।

हस्त-मैथुन के जितने दोष पुरानी पोथियों में लिखे हैं, वास्तव में वे सारे दोष अति-मैथुन के हैं । मानक-मैथुन की अति का होना आमतौर पर कठिन होता है, क्योंकि मानक-मैथुन को पूर्णता तक पहुँचाने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है, वे सारे इतनी कठिनता से एकत्र हो पाते हैं कि उसकी अति होना सामान्यत: सरल नहीं होता । उपयुक्त-साथी, उपयुक्त-समय, उपयुक्त-स्थान, उपयुक्त-अवसर आदि `उपयुक्तों ` में से किसी एक की भी कमी रह जाए तो मानक-मैथुन मुल्तवी हो जाता है, लेकिन हस्त-मैथुन में चूंकि उन सब साधनों की ज़रूरत नहीं पड़ती इसलिए इसकी अति हो सकती है, इसका चस्का आसानी से लग सकता है । अन्य मैथुन प्रकारों से अधिक सुविधापूर्वक होने के कारण व्यक्ति यह मैथुन अपनी शक्ति-विसर्जन-क्षमता से अधिक कर बैठता है ।

....

प्रतीक मैथुन, पशु मैथुन

कोई भी छिद्र तलाश करके,उसे योनि का प्रतीक मान कर रति में रत हो जाना या किसी लम्बे आकार की वस्तु को शिश्न का प्रतीक मान कर,उसे अपनी उत्तेजना-शमन का साधन बना लेना प्रतीक-मैथुन की श्रेणी में आने वाली क्रियाएं हैं ।

योनि और शिश्न के प्रतीक तलाश करते करते मानव बेजान-चीज़ों से मानवेतर-जीवों तक जा पहुँचता है । जब हथेली से योनि का और उंगलियों से शिश्न का काम लिया जा सकता है,तो उन्हें अनदेखा करके पशुओं में ग्रहणक और प्रवेशक अंग तलाश करना उन्हें अजब लग सकता है जो स्वयं इस प्रकार मैथुन के अभ्यस्त नहीं हैं ।

पशु-मैथुन और प्रतीक-मैथुन के अभ्यास का मुख्य कारण अनु-करण प्रवृत्ति है । दो सहेलियों में से एक यदि अपनी उत्तेजना नि-वृत्ति के लिए केला या बैंगन प्रयुक्त करती है, यदि वह इस बात की चर्चा अपनी दूसरी यौन-चेतना-सम्पन्न सहेली से करे तो दूसरी सहेली उस प्रतीक के चिंतन-मात्र से सुखद-सिहरन से भर जाएगी और हस्थ-मैथुन जैसे अपने हाथ के उत्तेजना-निवारक साधनों पर से ध्यान हटा कर, वह दूरस्थ प्रतीकों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न-शील हो जाएगी । उन प्रतीकों की प्राप्ति-काल में उसे वही आनन्द आएगा जो मानक-मैथुन में रत व्यक्ति को प्राक्क्रीड़ाओं में आता है ।

हस्त-मैथुन की सुविधा-जनक क्रियाओं को छोड़ कर प्रतीकों के पीछे भागने की प्रवृत्ति का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि हस्त-मैथुन में एक कमी है जो प्रतीक-मैथुन में नहीं है । वह यह कि हस्त-

मैथुन के अभ्यासी का उत्तेजना काल लम्बा नहीं होता । उसकी उत्तेजित होने और विसर्जित होने की क्रियाओं में व्यवधान इतना कम होता है कि व्यक्ति उत्तेजना का पूरा आनन्द नहीं ले पाता ।

उत्तेजना-काल को लम्बा करने के लिए मानव-प्रतीकों की तलाश करता है । ऐसे प्रतीक, जो उसे तुरन्त न मिल जाएं, जिन्हें तलाश करने में देर लगे । तलाश के उन क्षणों में वे प्राक्क्रीड़ाओं का-सा सुख पाएं, वह सुख जितना लम्बा हो सके, होने दें ।

....

प्रकरण—१२

प्रेम और प्रेम का आवेग

— प्रेम का आदि-स्रोत
— प्रेम का आधार
— नैसर्गिक-प्रेम और अर्जित-प्रेम
— इन्द्रिय-गत प्रेम और
इन्द्रियातीत-प्रेम
— प्रेमावेग

प्रेम का आदि स्रोत

यौन-सुख की प्राप्ति के लिए एक को दूसरे की आवश्यकता पड़ती है। उत्तेजना के शांत हो जाने के बाद वह आवश्यकता समाप्त हो जाती है। कई अवस्थाओं में उस शारीरिक-आवश्यकता के समाप्त होने के बाद भी उन दोनों इकाईयों में कुछ सम्बन्ध रह जाता है, जो उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं होने देता।

कई बार इस आशा से एक इकाई अपनी यौन-पूरक इकाई की ओर अग्रसर होती है कि उससे भविष्य में यौन-सुख मिलेगा; लेकिन कुछ कारणवश दोनों इकाईयों का शारीरिक मिलन नहीं हो पाता। यौन-सुख का आदान-प्रदान हुए बिना उन दोनों के बीच एक भावात्मक सम्बन्ध कायम हो जाता है, जो उन्हें एक-दूसरे के लिए अनिवार्य होने का बोध कराता रहता है।

कई बार अयौन-सम्बन्धों में भी इस प्रकार का एक-दूसरे के लिए अनिवार्य होने का बोध रहता है। इस प्रकार के बोध की सभी अवस्थाएं `प्रेम` की भिन्न विधाएं हैं।

यौन-इच्छा पर आधारित प्रेम व्यापक-प्रेम का एक पक्ष है। इस एक पक्ष के इलावा और पक्ष भी हैं, जिनकी चर्चा यहां होनी है। प्रेम के व्यापक स्वरूप के विस्तार में जाने से पहले प्रेम के आदि-स्रोत का विचार करना यहां अपेक्षित है।

प्रेम का मूल `भय`[1] है। शिशु जब संसार में आता है

---

१. विवरण के लिए देखें इसी लेखक द्वारा रचित निबंध `राष्ट्रीयता`।

तो वह निपट असहाय होता है । भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, वर्षा, ध्वनि, ये सब शिशु के लिए कष्टप्रद होते हैं । उन कष्टों से शिशु पलायन करना चाहता है, लेकिन असमर्थ होने के कारण. कर नहीं सकता । बिस्तर चुभ रहा या बिस्तर भीग गया है, उन दोनों अवस्थाओं से होने वाले कष्ट से वह स्वयं त्राण नहीं पा सकता । खिड़की से धूप आकर उस पर पड़ने लगी है, लेकिन वह उससे अपनी रक्षा नहीं कर सकता । मच्छर उसे काट रहा है, मक्खी शरीर पर भिनभिना रही है ; लेकिन वह उन्हें हटा नहीं सकता । इस प्रकार के सभी कष्टों से जो व्यक्तित्व उसकी रक्षा करता है । शिशु उससे लिपट जाता है । प्रेम का आदि-रूप यही है ।

उसे अपनी छाती से लिपटा लेने वाला उससे बड़ी उम्र के व्यक्ति को किसी ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है, जो उस पर पूर्ण निष्ठा रखे, उसे अपना विश्वास-पात्र माने और उसे विश्व का सर्वाधिक-श्रेष्ठ व्यक्ति समझे । ऐसा निष्ठावान व्यक्तित्व सिवाय शिशु के और कोई नहीं हो सकता, अत: ऐसा पूर्ण आस्थावान व्यक्तित्व पाते ही बड़ी उम्र का व्यक्तित्व अपनी श्रेष्ठतम-भावना के पोषण के लिए, अपने लिए अनिवार्य समझ कर उसे कस कर भींच लेता है । प्रेम के आदान-प्रदान का चक्र चलना यहीं से शुरू हो जाता है ।

शिशु नहीं जानता कि वह किसकी कोख से जन्मा है। उसे ऐसा सहाई चाहिए जो उसकी भूख-प्यास आदि आवश्यकताएं समझ सके । चाहे वह माता हो, धाय हो, पड़ोसी हो या कोई और मानवेतर जीव हो, जो भी उसका सहाई बनता है, वह उस शिशु के प्यार का अधिकारी बन जाता है ।

लेकिन उसके प्यार के उत्तर में अपना प्यार देने वाला बड़ी उम्र का व्यक्ति हर निकटस्थ-शिशु पर अपना प्यार नहीं लुटा सकता।

समाज में विचरण करते हुए वह जानता है कि किस शिशु पर प्यार लुटाना उसके लिए हितकर है, किस पर हितकर नहीं है। वह सोचता है :—

अमुक शिशु किसी और की संतान है। मुझे निकट देख कर मुख पर आस्था रखता भी है तो अस्थायी-रूप से। आखिर उसे मुझसे दूर होकर अपने माता-पिता के निकट होना है, अत: मेरे लिए अच्छा है कि मैं उस शिशु पर अपना प्यार न्यौछावर करूँ जो मुझ से जल्दी अलग न हो सकता हो। जो मेरी कोख से जन्मा हो, या मेरे अंश का फल हो, या मेरे वंश के किसी अंश का फल हो, या जिस पर समाज मेरा अधिकार अधिक मानता है, जिसे मुझ से छीन कर कोई न ले जा सकता हो। यदि ऐसा व्यक्ति अभी पैदा नहीं हुआ-तो रुक जाना चाहिए। उसके आने तक अपनी वह भावना सम्भाल कर रखनी चाहिए। अगर वह नहीं आएगा तो किसी और पर पहले अपने पूरे अधिकार का सामाजिक-आश्वासन पाकर, उस पर वह भावना प्रकट करनी चाहिए। जब तक उसके 'मम' होने का आश्वासन न मिले उसके लिए 'ममत्व' कैसा। जब वह 'मेरा' मान लिया जाए तो उसकी रक्षा करने के लिए, उसके लिए सुखद वातावरण का निर्माण करना संगत होगा, क्योंकि उस समय उसके लिए किया गया सुरक्षा प्रबन्ध केवल उस व्यक्तित्व के हित के लिए नहीं होगा, बल्कि इसलिए होगा कि वह अपना है। उसकी रक्षा करना 'अपनी' वस्तु की रक्षा करना है।

उधर जब तक शिशु घर से बाहर के संसार के संपर्क में नहीं आता, वह अपने पालन-हारों को ही सबसे अधिक हितैषी समझता है। वे उसकी सुरक्षा की जिम्मेवारी अपने सिर लेते हैं, इसलिए वह उनकी लगाई हुई रुकावटों को भी सहन करता है। रुकावटों के कारण वह अपने पालन-हारों को नापसन्द भी करता है, लेकिन

उसे सुरक्षा और कहीं नहीं मिलती इसलिए अपनी नापसन्दीदगी छिपाए रखता है। घर से बाहर के संसार में पदार्पण करते ही जब कभी वह अपनी आयु के दूसरे शिशुओं के सम्पर्क में आता है तो उसे अपनी जैसी समस्याओं से घिरे व्यक्तित्व से मिल कर लगता है कि वह अकेला नहीं है। और कोई भी उसके दुख-सुख का साथी है। उसे अपने दिल की बात समझने वाला मिल जाता है। उसके निकट रहने की कामना उसमें बलवती हो उठती है, नैकट्य की वह कामना सख्यभाव कहलाती है। और अधिक उम्र का होने पर जब उसकी यौन-ग्रंथियां अधिक क्रियाशील होने लगती है, उसे नयी दृष्टि मिलती है, उसका सख्य भाव अपने लिंग के व्यक्तियों की ओर से घट कर विषम-लिंगियों के प्रति होने लगता है। अपनी ही योनि के अपने से अलग किस्म के अंग-समूह के धारक-व्यक्तित्व का नैकट्य उसे अधिक सुखद लगने लगता हैं, नैकट्य की इस कामना का नाम वासना रख लिया जाता है।

भय-जनित-प्रेम, वातावरण और आवश्यकता के अनुसार अपने रूप बदलता हुआ आदर, श्रद्धा, राष्ट्रीयता आदि अनेक नाम धारण करता रहता है और प्रेम के उन सभी रूपों का ध्येय एक ही होता है — आत्म-सुख।

....

प्रेम का आधार

व्यक्ति मूल रूप में अपने आप से प्रेम करता है। यदि वह दूसरे से प्रेम करता दिखाई देता है तो इस आशा पर कि उसे बदले में उतना और वैसा प्रेम मिलेगा ही। खुद प्रेम-पात्र बनने के लिए ही वह किसी का प्रेमी बनता है। प्रेम की वेदी पर बलिदान होने के जितने भी किस्से प्रचलित हैं, उन बलिदानों की तह में आत्म-प्रेम के सिवा कुछ नहीं होता। प्रेम की दु:खांत कहानियों के नायक-नायिकाएं, उदाहरणत: लैला-मजनू या रोमियो-ज्यूलियट या सारंगा सदाबृज एक-दूसरे के पीछे मर मिटते सुने जाते हैं। वास्तव में वे एक-दूसरे के पीछे नहीं मरते, बल्कि अपने आपको जीवन भर के काल्पनिक-संताप से बचाने के लिए वे जीवन त्याग देते हैं। ऐसी कथाओं के नायिकाएं व नायक, प्रणाय के प्रथम चरण में, एक-दूसरे को अपने लिए इतने अनिवार्य समझ बैठते हैं कि एक-दूसरे के बिना जीवन बिताने की कल्पना ही उन्हें दुस्सह जान पड़ती है। वियोग के कल्पनातीत दुख से त्राण पाने के लिए वे एक-दूसरे की प्राप्ति के लिए भरसक प्रयत्न करते रहते हैं। प्राप्ति में विफल होने के बाद उन्हें अपने प्रेम पात्र के बिना जीवित रहने की अपेक्षा मरना सरल लगता है। वे कठिन को छोड़ कर सरल राह अपना लेते हैं। समाज उन सरल-पथ-गामियों को शहीद समझने लगता है।

फालतू देकर सुखकर प्राप्त करने की चेष्टा में प्रत्येक व्यक्ति लगा हुआ है। किसके लिए क्या फालतू है और क्या सुखकर, इस प्रश्न का उत्तर हर व्यक्ति की परिस्थितियों पर और सोचने के

ढंग पर निर्भर है।

एक व्यक्ति अपने सुख का साधन अपनी प्रेयसी को समझता है तो दूसरा माता, संतान, पति, अपने पालतू-पशुओं, फसलों, बिरादरी या पैसे को समझता है। अपने जीवन-दर्शन और अभ्यास के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख का साधन कुछ व्यक्तियों, जीवों या वस्तुओं को मान लेता है, फिर उसकी प्राप्ति के प्रयत्नों में उसे सुख का आभास होने लगता है। कोई व्यक्ति यदि अपने सुख का साधन पैसे को समझता है तो वह पैसे को लैला समझ, खुद उसका मजनूं बन, अपनी हालत बुरी बना लेता है। अर्थ-प्राप्ति से होने वाले कष्ट को वह कष्ट नहीं समझता।

अर्थपति जहां अपनी अर्थ-क्षमता बढ़ा कर अपने आपको सुखी समझता है, अर्थहीन को भी अपनी बिरादरी बढ़ा कर वैसे सुख की अनुभूति होती है। वह यदि अपने धन को अपनी बिरादरी समझता है तो यह अपनी बिरादरी को अपनी अमूल्य-निधि मानता है। अपने-अपने सुखके साधनों का विकास, वे दोनों अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार करते रहते हैं।

यदि कोई व्यक्ति किसी शिशु को अपने सुख का मुख्य-साधन मान लेता है तो वह उस शिशु को बचाने के लिए सुख के गौण-साधनों का बलिदान कर देता है। ज़रूरी नहीं कि वह शिशु उसकी अपनी संतान हो। वह शिशु किसी और की संतान भी हो सकता है, ऐसा कोई भी शिशु, जिससे प्यार मिलने की उम्मीद हो। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति अपनी जायी संतान के प्रति भी क्रूर बन जाता है। अपनी तथाकथित-प्रिय-संतान के किसी कृत्य के कारण यदि उसे अपने समाज से बहिष्कृत होना पड़े तो वह मन-ही-मन संतान और समाज से प्राप्त होने वाले सुखों को तौलता है। यदि वह समाज के बिना

गुज़ारा कर सकता है तो समाज का बहिष्कार करके संतान को गले लगा लेता है। यदि वह समाज को अपने लिए संतान से अधिक आवश्यक मानता है तो वह समाज के निमित्त संतान का त्याग कर देता है।

अपने बच्चों के पालन-पोषण के लिए सतीत्व बेच देनेवाली निर्धन माताएं भी होती हैं और ऐसी माताएं भी जो सतीत्व को बचाना अपना परम-कर्तव्य समझती है, सतीत्व बचाकर बच्चे को भूखा रखने में कुछ हर्ज नहीं समझतीं। ऐसी आदर्श-नारियों के बारे में पढ़ा-सुना है कि रोगी बच्चा बिना औषधि के मर रहा होता है। उसके लिए औषधि पाने के लिए उसकी माता से सतीत्व बेचने की माँग की जाती है। ममतामयी उस शर्त पर अपने सतीत्व का त्याग नहीं करती, बच्चे को जाने देती है। अपनी सन्तान के प्रति उसका प्यार कम नहीं होता लेकिन उस प्यार के बदले में अपने सतीत्व का सौदा उसे मँहगा लगता है।

ऐसी घटनाएं उस समाज में होती हैं जहाँ नारी का सतीत्व अति अमूल्य-निधि समझा जाता है। इस निधि से हीन नारी की सामाजिक-स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है।

मानव के तो संतान के साथ कुछ स्वार्थ जुड़े होते हैं, लेकिन ममता तो पशुओं में भी होती है। पक्षी अपने अंडे सेते हैं, पशु अपने बच्चे की रक्षा के लिए सजग रहते हैं। पक्षी दिन भर के परिश्रम से प्राप्त जो चुग्गा लाता है, वह अपने पेट में डालने के बजाय अपने बच्चे की खुली चोंच में डाल देता है। बछड़े को देख कर गाय के थनों में दूध उतर आता है। उन जीवों को न अपनी संतान से पिंड-दान कराना होता है, न उसके माध्यम से अपने कुल का नाम उज्ज्वल कराना होता है। फिर उनका वात्सल्य किस आशा से उपजता और पनपता है?

गाय को जीव-जगत् का एक प्रतिनिधि मान कर उसके वात्सल्य की पृष्ठभूमि में छिपी उसकी आवश्यकताओं का अध्ययन

अनुमान के बल पर करने में कुछ हर्ज नहीं । शरीर के अनुकूलन-धर्म के अनुसार मैथुन उसकी आवश्यकता है । उस सुखद क्रिया का फल गाय को गर्भवती होकर भोगना होता है । गर्भ-काल में उसका शरीर भारी हो जाता है । ठीक प्रजनन के लिए उसके पालक उसका दूध निकालना बन्द कर देते हैं । इससे उसके मल-अनुकूलन-धर्म में बाधा आने से, उसके स्तन दुग्धातिरेक से दर्द करने लगते हैं। मैथुन में वह स्वेच्छा से भाग लेती है, लेकिन मैथुन के बाद की उस अनिवार्य-कष्ट की स्थिति को वह स्वेच्छा से स्वीकार नहीं करती,उसे स्वीकार करनी पड़ती है । उस स्थिति से वह अपनी मर्जी से त्राण नहीं पा सकती । केवल प्रजनन ही उसे उस शरीर के भारीपन से, स्तन के दर्द से मुक्ति दिला सकता है, लेकिन प्रजनन एक निश्चित-अवधि के बाद होना सम्भव होता है । जब हो जाता है तो हल्केपन का आभास उसे होता है । अपने बछड़े को देख कर उसके मन में यह दुर्भावना नहीं आती कि वह यही था जो उसे भीतर तंग कर रहा था, बल्कि यह सद्भावना उसे देख कर उसमें उपजती है कि इस बछड़े के आते ही उसे हल्केपन का आभास हुआ । एक नये,नाजुक,नर्म और ताज़े शरीर का संसर्ग, उस पर बछड़े का दाँत-विहीन मुख से स्तनों को चूस कर खाली करना, उसे दुग्धातिरेक के कष्ट से त्राण दिलाना -- यह नया सुख गाय के मन में जिस भावना को जन्म देता है, मानव उस सुख को `वात्सल्य` कहता है । अनुमान है कि इसी से मिलता-जुलता सुख पक्षियों को अपने अंडों को सेने में मिलता होगा । शरीर के अनुकूलन-धर्म के अनुसार जीव को क्रियाशील तो होते रहना पड़ता है, क्रियाशीलता के लिए यदि ये मानवेतर जीव अपनी संतान को माध्यम बना लेते हैं तो इसे विचित्र बात नहीं कह सकते ।

मानव से इतर अन्य जीव संतान से अस्थायी सा प्यार पाने के अतिरिक्त और कोई आशा नहीं रखते, लेकिन मानव अपनी संतान

से आशाएं भी लगाता है। उस लिहाज़ से हम पशु-पक्षियों के प्रेम को अपेक्षाकृत निष्काम और मानव के प्रेम के अपेक्षाकृत सकाम कह सकते हैं। यह कहने से हमारा अभीष्ट मानव को स्वार्थी और अन्य जीवों को नि:स्वार्थी सिद्ध करना नहीं है। मानव के सकाम प्रेम के पीछे कुछ परिस्थितियां हैं जो पशु-पक्षियों के सामने नहीं हैं। उदाहरणत: यदि किसी बिल्ली का मन दूध पीने को करता हो तो उसे दूध प्राप्त करने के लिए करेंसी नोट या सिक्के नहीं जुटाने पड़ते, न चिड़िया को अपना घोंसला बनाने के लिए तिनके खरीदने पड़ते हैं और ना ही मधु-मक्खियों को मधु का छत्ता अटकाने के लिए कोई छत या वृक्ष की डाली पट्टे पर लेनी पड़ती है। उन मानवेतर जीवों की आवश्यकताएं, मुद्रा जैसी वस्तु के विनिमय के बिना अपने प्रयत्नों से पूरी होती रहती हैं, इसलिए वे अपनी संतान का पालन, मात्र अपनी निजी-चेष्टाओं से कर लेती हैं और अपने आपको दूरदर्शी कहलाने का उन्हें कोई मोह नहीं होता, अत: अपने `आज` में मस्त, वे अपनी संतान से किसी वफादारी की आशा नहीं रखतीं। लेकिन मानव को जीवित रहने के लिए और अपनी संतान का पालन करने के लिए सामाजिक-नियमों पर चलते हुए, हर वस्तु का मूल्य चुका कर साधन जुटाने होते हैं। मनुष्य इस आशा से सब साधन जुटाता है कि जब वह बुढ़ापे में अशक्त हो जाएगा तो उसकी संतान उसके असहाय-काल में उसका सहारा बनेगी।

ज्यों-ज्यों मानव को अपनी संतान से वफादारी की आशा कम होने लगी है और उस पर संतान के

पालन-पोषण की जिम्मेवारी बढ़ने लगी है, त्यों-त्यों वह परिवार-नियोजन का पक्षपाती होने लगा है । अब पहले जैसा समय नहीं रहा कि वह अपनी संतान का विधाता स्वयं बन जाए । उसे बिना पढ़ाए-लिखाए जीविकोपार्जन के काम में लगा ले और जब चाहे उसे मार-पीट दे । बहुत से राष्ट्रों में अब शासन ने माता-पिता पर संतान के पालन-पोषण सम्बन्धी बहुत से कर्तव्य लाद दिए हैं और उनसे संतान के साथ मनमाना व्यवहार करने के बहुत से अधिकार छीन लिए हैं । ऐसी स्थिति में मानव को संतान का कम होना सुविधाजनक लगने लगा है । समग्र-प्रेम के एक अंश 'वात्सल्य' के निकास के लिए वह एकाध संतान जनने का कष्ट भले ही उठा लेता है, लेकिन वह बुद्धिमानी इसमें समझता है कि अपने वात्सल्य के लिए वह जने जनाए कुत्ते, बिल्लियाँ व कबूतर पाल ले । संतान का यह पर्याय समझ लेने वाले बुद्धिमानों की संख्या जिस समाज में बढ़ गयी है, उस समाज में सैर करते हुए अपने शिशु को लेकर चलना फूहड़पन समझा जाता है और मनपसन्द पशु को साथ लेकर घूमना फैशन बन गया है । बच्चा धाय के हवाले कर दिया जाता है और अपने प्रिय-पशु को अपने हाथ से पाला-सँवारा और दुलारा जाता है ।

यह सब देखकर जिज्ञासु के मन में प्रश्न उपजता है कि ममता क्या है ? यह भावना संतान के हित के लिए है या अपने मानसिक-सुख के लिए है? ममता का आधार जिस संतान को समझा जाता है, वह खुद भी माता-पिता को इसलिए प्यार करती है कि उनसे उसकी आवश्यकताएं पूरी होती रहती हैं। उनके पास उसे सुरक्षा की अनुभूति होती है, वरना शुभ-चिंतक होने के नाते माँ-बाप अपनी संतान की स्वतंत्रता का जितना हनन करते हैं, उस कारण संतान उनसे प्रेम की अपेक्षा घृणा करती है । वह अपने माता-पिता के

प्रति घृणा तब तक छुपाए रहती हैं और प्रेम प्रकट करती रहती है, जब तक उसे घर से बाहर के संसार में सुरक्षा का आश्वासन नहीं मिल जाता । वह आश्वासन मिलते ही वह प्रेम की झिल्ली उतार कर अपने सुख के लिए जो ठीक समझती है, कर गुजरती है ।

नारी प्रेम-मयी कही जाती है । उसका कारण यह है कि वह पुरुष की अपेक्षा अधिक अशक्त, अधिक असहाय होने के कारण भयभीत रहती है । उसे आश्रय चाहिए । पिता, भाई, पति या संतान का आश्रय । उनसे निराश्रित हो जाने की आशंका उसे प्रेम-मयी बनाए रहती है । यदि वह कभी पति के बाद सती हो जाती थी तो पति के प्रेम के कारण नहीं, बल्कि इसलिए होती थी कि उसे ऐसा करने के लिए समाज विवश करता था। यदि वह समाज के उस आग्रह को टाल कर जीना भी चाहती थी तो उसका वह जीना मरने से बदतर होता था । पहाड़-सा दुष्कर जीवन, तिलतिल करके लम्बा कष्टमय जीवन बिताने की अपेक्षा स्वेंच्छा से मर जाना उसे सरल लगता था । विकट राहों में से एक को चुन कर वह `अमरता` प्राप्त कर लेती थी ।

पूर्वीय समाज की नारियों के बलिदान और सहिष्णुता की गाथाएं प्रसिद्ध हैं । पति के क्रूरतापूर्ण व्यवहार के बावजूद वह पति का अमंगल नहीं चाहती रही । उसकी इस सहनशीलता का कारण सामाजिक-परिस्थिति थी । विधवा कहलाने की बजाय क्रूर-पति की पत्नी होकर सधवा कहलाना हर लिहाज से अच्छा था । अट्ठारवीं सदी के हिन्दू समाज में विधवा की जो सामाजिक स्थिति थी, उसके सामने विश्व का का कोई भी कष्ट हेय था।

अब अंत में उन व्यक्तियों की चर्चा करनी बाकी है जिन्हें दूसरों के हित-चिंतन में मानसिक संतोष प्राप्त होता है । ध्यान देने की बात यह है कि वे दूसरों का हित इसलिए करते हैं कि इससे

उन्हें मानसिक संतोष मिलता है। दूसरों को दुखी देख कर उन्हें जो संताप होता है, उससे त्राण पाने के लिए वे दूसरों को सुखी बनाने की चेष्टाएं करते हैं।

कोई व्यक्ति किसी प्यासे को पानी पिलाता है, भूखे को रोटी देता है, या निराश्रित को आश्रय देता है, उन सभी नि:स्वार्थ कार्यों की तह कहीं-न-कहीं आत्म-सुख है। या उसे यश की आवश्यकता है या उसके धर्म में लिखा है कि परोपकार के ऐसे कार्यों के बदले में उसे मरणोपरान्त सुख मिलेगा। एक बार किसी व्यक्ति को, जब दूसरे का हित करके मानसिक-आनन्द मिल जाता है तो उस आनन्द का जब चाहे आह्वाहन करने के लिए वह परोपकार के कार्य करने लगता है। इस प्रकार की निरन्तर पुनरावृत्तियों के कारण वह पर-हित-चिंतन का अभ्यस्त बन जाता है। अभ्यस्त बन जाने के बाद जब कभी भूल से उससे किसी का अहित हो जाता है तो उसे मानसिक-यातना होती है। उस असह्य-यातना से बचने का बस यही उपाय होता है कि वह किसी का अहित न करे।

स्वार्थी-व्यक्ति तो आत्म-प्रेमी माना ही जाता है, लेकिन गहरी नज़र से देखा जाए तो परमार्थ भी आत्म-प्रेम का ही रूप है। दोनों में फर्क यह है कि स्वार्थी खुल कर कहता है 'मैं अपना लाभ देखूंगा। अपने लाभ के लिए किसी की हानि करने से भी नहीं चूकूँगा।' परमार्थी कहता है 'मैं अपने लाभ के लिए किसी का अहित न करूँगा, बल्कि दूसरे के लाभ के लिए अपना ही अहित कर लूँगा।' वह इस आशा से हित करता है कि परमात्मा उसका बदला उसे देगा। इस विचार से उसे सांत्वना मिलती है। वास्तव में वह दूसरों को कष्ट देने का अभ्यस्त नहीं होता है।

अपने अभ्यास के अनुसार, अपने मानसिक-संतोष के लिए वह पर-हित-साधन करता है। यदि उसके बदले में उसे अपने जीवन में यश जैसा कोई पुरस्कार मिल जाता है, तो उसका अभ्यास और भी पक्का हो जाता है। यदि वह पुरस्कार नहीं भी मिलता तो उसकी प्राप्ति की प्रतीक्षा में उसे जो काल्पनिक-सुख मिलता है, वही उसके लिए पुरस्कार बन जाता है।

परमार्थी बेशक आत्म-सुख के लिए पर-हित-चिंतक बना रहता है, लेकिन उसके स्वार्थ में समाज के अन्य व्यक्तियों का हित होता रहता है। इसलिए समाज उसका कृतज्ञ होता है। समाज के कृतज्ञ होने में वास्तव में समाज का अपना स्वार्थ होता है। वह यों कि पर-हित-चिंतकों के अस्तित्व के कारण ही समाज का ढाँचा ठीक से खड़ा रहता है। यदि समाज उसके प्रति कृतज्ञता का ज्ञापन करता है तो परमार्थी पर अहसान नहीं करता। यही एक उपाय है जिससे पर-हित-चिन्तकों के परोपकार-भाव को प्रेरणा मिलती है और समाज की कृतज्ञता का पात्र बनने की आशा के कारण पर-दुख-कातर व्यक्तियों का क्रम टूटने में नहीं आता।

....

नैसर्गिक और अर्जित-प्रेम

प्रेम की हर अवस्था के मूल में कहीं-न-कहीं स्वार्थ होता है, लेकिन वह स्वार्थ दो व्यक्तित्वों को निकट कर देने का मात्र बहाना होता है। निकट हो जाने के बाद उन दोनों में एक-दूसरे के लिए अनिवार्य समझने की और अपने सम्पर्क में आए दूसरे व्यक्तित्व के सुख में अपने आपको सुखी समझने की भावना उत्पन्न हो जाती है। उस भावना के बिना कोई भी सम्पर्क `प्रेम` नहीं कहलाया जा सकता।

प्रेम के व्यापक स्वरूप में वात्सल्य, श्रद्धा, स्नेह और वासना आदि सुखद भाव आ जाते हैं और प्रेम के ये सभी रूप मानव के संतुलित विकास के लिए आवश्यक हैं। लेकिन पिछली शताब्दी में ब्रह्मचर्यवाद के विरोध में जो मत बना, वह मत बलवान हो गया है। वह मत नर-मादा के यौन-सम्पर्क पर आधारित प्रेम को नैसर्गिक तथा नर और नारी के इलावा अन्य अयौन-सम्पर्कों पर आधारित प्रेम के रूपों को अर्जित कह कर वासना — जनित-प्रेम को अधिक महत्त्वशाली प्रकट करना चाहता है।

इससे बेशक इंकार नहीं हो सकता कि नर-नारी के दरम्यान जितने यौन-दृष्टि से अगम्य रिश्ते हैं, वे सब अर्जित हैं और नर-नारी का इंद्रिय-गत प्रेम ही नैसर्गिक है ; लेकिन यदि कोई व्यक्ति अर्जित-प्रेम से नैसर्गिक-प्रेम की महत्ता अधिक सिद्ध करके, समाज में नर-नारी के गम्यागमन के सम्बन्ध में प्रचलित-
२२५ नियमों की अवहेलना करने का आग्रह करता है तो ऐसे मत का

खंडन करना अनिवार्य है। वह इस लिए कि अर्जित समझी जाने वाली प्रेम की विधाओं ने मानव-जीवन की एक-रसता को कम करने में योग दिया है। उसे प्रेम के नये-नये आनन्दों से परि-चित कराया है। अपने पति-गृह में पति के साथ शैया पर बैठी पत्नी एक प्रकार के आनन्द से परिचित होती है। दूसरे प्रकार के आनन्द से वह तब परिचित होती है जब वह अपने भाई की सुहागरात के समय भाई और भावज को एक-कमरे में बन्द कर देती है। यह मानव का अर्जित गुण है कि एक पुरुष नारीत्व के सभी गुणों से सम्पन्न किसी स्त्री को देख कर, उत्तेजित होने से पहले यह जाँच कर लेना चाहता है कि कहीं वह स्त्री उसके सामाजिक-रिवाज के अनुसार अगम्य तो नहीं।

हो सकता है नैसर्गिक-प्रेमवादी की निगाह में गम्या-गमन के बारे में यह सब सोचना मूर्खता हो लेकिन प्रेम की ये अलग-अलग विधाएं जीवन के संतुलित विकास के लिए आवश्यक हैं। यदि यह नैसर्गिक-प्रेम ही मानव सुख के लिए सब कुछ होता तो हालीवुड की प्रसिद्ध अभिनेत्री मैरेलिन मनरो को आत्म-हत्या न करनी पड़ती।

मनरो की आत्म-हत्या की खबर को एक अर्सा तक समाचार-पत्रों में प्रमुख स्थान मिलता रहा। यह दुर्घटना मन-रो के जीवन-काल में उस समय हुई जब वह लोकप्रियता और सम-पन्नता के उच्चतम शिखर पर थी। उसे वह सब कुछ प्राप्त था जो किसी भी युवती के सपनों में संजोया होता है, फिर भी उसने आत्म-हत्या कर ली। कारण ? कारण उसके बहुत बताए जाते रहे हैं, लेकिन मेरे मतानुसार उसकी आत्म-हत्या का कारण यह था कि वह जब से जवान हुई, उसका प्रेम की केवल

एक विधा से साक्षात्कार रहा । वह था यौन-सम्बन्धों पर आधारित नैसर्गिक-प्रेम । वह करोड़ों के दिल की रानी थी लेकिन उसका कारण उसमें मादा-गुणों का कूट-कूट कर भरा होना था । मादा के अतिरिक्त वह जो कुछ होने की कामना करती रही, उसकी वह कामना पूरी न हो सकी थी । प्रेम की केवल विधा से ऊब कर उसने अपने आपको खत्म कर दिया।

अलग-अलग दायरों में सीमित प्रेम की अलग-अलग विधाओं में मानव रस लेता रहा है । एक दायरा पत्नी के लिए है उससे यौन-सम्बन्ध अवश्य रखना है । यदि नहीं रखा जाता तो शिकायत पैदा होती है । दूसरा दायरा माता या पुत्री या पिता या मित्र या मित्र-पत्नी का है । वहां अगर यौन-सम्पर्क की इच्छा हो, तो भी उस इच्छा को दबाना है । मात्र अयौन सम्बन्ध रखना है । इस प्रकार के दायरों में सीमित प्रेम की विधाएं एक ओर व्यक्ति को ऊबने से बचाती हैं और दूसरी ओर ये विधाएं प्रेम को अलग-अलग दिशाओं में विकसित होने का अवसर देकर प्रेम की अनुभूति को अधिक तीव्र बनाती हैं ।

....

इन्द्रिय-गत प्रेम और इन्द्रियातीत-प्रेम

सच्चा प्यार क्या है और झूठा प्यार क्या — यह विवाद कभी-कभी उठता है। भिन्न-भिन्न तर्क और मत उपस्थित किये जाते हैं। उदाहरणतः यह कि सच्चा प्यार दैवी वरदान होता है। वह अटूट होता है। संकटकाल में भी कम नहीं होता। या यह कि झूठा प्यार शैतान का बहकावा होता है। इन्द्रियों की भूख पर आधारित होता है, उस प्यार के टूटने की आशंका हर समय बनी रहती है।

शाश्वत और इन्द्रियातीत प्रेम के प्रतिष्ठाता, इन्द्रियों की माँग पर आधारित प्रेम को निकृष्ट और इन्द्रियातीत प्रेम को श्रेष्ठ सिद्ध करते रहते हैं। उनके मतानुसार इन्द्रियातीत प्रेम ही स्थायी हो सकता है।

भारतीय आर्ष-ग्रन्थों ने मन को इन्द्रियों[1] से अलग वस्तु माना है और प्रेम का निवास मन है।

इस जानकारी के प्रकाश में हम यह तो मान सकते हैं कि कोई भी प्रेम इन्द्रियों को वाहन बनाए बिना मन में जीवित रह सकता है, लेकिन मन में जीवित रह वही प्रेम [illegible] सकता है जिसके इन्द्रियगत होने की सम्भावना हो।

प्रेम-पात्र को देखना, उसके बारे में सोचना, उसे छूने

---

१. पाच ज्ञानेन्द्रियाँ — श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण।
पांच कर्मेन्द्रियाँ — वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा

और पाने की कामना करना — ये सब प्रेम के फलने-फूलने के आधार हैं। हो सकता है यह कामना फलीभूत न हो, लेकिन यह कामना होती अवश्य है। उस बात को मान लेने में कुछ हर्ज नहीं कि इन्द्रियातीत-प्रेम इन्द्रियगत-प्रेम के मुकाबिले में अधिक स्थायी होता है। वह इसलिए कि जब तक प्रेम-पात्र इन्द्रियों के सम्पर्क में नहीं आता, तब तक उसके दोषों का ज्ञान नहीं होता। मात्र गुण सामने रहते हैं। ज्यों ही वह इन्द्रियगत होता है उसके दोषों का ज्ञान भी होने लगता है, इस लिए प्रेम में कमी आ जाती है। इन्द्रियातीत प्रेम में ग़लत-फ़हमी के फलने के लिए गुंजाइश होती है, लेकिन इन्द्रियगत में नहीं होती।

लैला-मजनू की मिसाल फिर लेते हैं। जैसा कि उस कहानी में वर्णित है कि वे दोनों प्रेमी आपस में मिल न सके। मात्र मिलने के लिए प्रयत्न करते रहे। उनके उस प्यार को इन्द्रियातीत कहा जाएगा। कल्पना कीजिए कि यदि वे मिल जाते। उनकी कामना के अनुसार उन दोनों का विवाह भी हो जाता, तो क्या उनकी गृहस्थी आदर्श होती ? शायद नहीं। यदि वे दोनों बिना किसी प्रयत्न के और तीव्र-चेष्टा के मिल गये होते तो बात दूसरी थी ; लेकिन समाज से तिरस्कृत होने, ईंटों-पत्थरों की मार सहने और गरेबान फाड़ने के बाद प्रेयसी के प्राप्त करने वाले मजनू के सोचने का ढंग उन आम-प्रेमियों के सोचने के ढंग से जुदा होता, जिन्हें बिना अधिक प्रयत्न किए प्रेयसी प्राप्त हो जाती है। समाज से टक्कर लेकर अपनी बुरी हालत बना कर मजनू जिस लैला को पाता, वह लैला उस इन्द्रियातीत लैला से भिन्न होती। कहाँ वह गुणों की खान काल्पनिक लैला और कहाँ मानवीय कमजोरियों से भरी वास्तविक लैला। उस वास्तविक लैला के साथ कुछ अर्सा गुजार कर

मजनूं मन-ही-मन अपनी मूर्खता पर पछताता कि वह क्यों उस हाड़-माँस की पुतली की प्राप्ति के लिए अपनी जवानी बर्बाद करता रहा।

ऐतिहासिक समझे जाने वाले पात्रों के प्रेम की शव-परीक्षा अनुमान के बल पर करना शायद मेरी अनाधिकार चेष्टा समझी जाए, इसलिए एक नितांत काल्पनिक-पात्र प्रस्तुत करता हूँ।

एक स्त्री का एक पुरुष से विवाह हो जाता है। प्रथम समागम से पूर्व, पति को परदेश जाना पड़ता है। पति का इस प्रकार बिना यौन-सुख का विनिमय किए चल देना पत्नी को नहीं सुहाता, लेकिन मजबूरी है। और मजबूरी के साथ आशा भी है कि परदेश से आने के बाद उसे सहवास का आनन्द मिलेगा। एक एक दिन करके वह वर्षों अपने पति की प्रतीक्षा करती रहती है। अपने सतीत्व की धरोहर को सम्भाले रहती है कि पति के आते ही उसे भेंट करेगी। पति के परदेश से लौटने की ख़बर आती है। उस ख़बर से उसके आनन्द का पारावार नहीं रहता, लेकिन किसी दुर्घटना के कारण रास्ते में ही पति का देहांत हो जाता है। अब उसके शोक का पारावार नहीं रहता। पति का जो चित्र उसने अपने मानस-मंदिर में बनाया हुआ होता है, वह अमिट हो जाता है। वह चित्र उसकी अपनी कल्पनाओं की प्रतिमूर्ति होता है। पति की याद ताज़ा रखने के लिए वह उसके नाम पर अपनी हैसीयत के अनुसार कोई मंदिर, भवन या प्याऊ बनवाती है। यदि वह दूसरा विवाह करती भी है तो उसके पति की सुखद याद फिर भी उसके मन पर रहती है।

लेकिन कहानी का अंत इस प्रकार का दुखद न

होकर यदि सुखद हो जाता है, यानी पति परदेश से लौट आता है और उससे समागम करते समय पत्नी को ज्ञात होता है कि उसका पति नपुंसक है, तो वह स्त्री जो वर्षों से विना समागम रह रही थी, उसे यौन-सुख की आवश्यकता का तुरन्त बोध होने लगेगा। पति के इंद्रियों के निकट-सम्पर्क में आने से पहले उसके मन में जो श्रद्धा का भाव बसा होगा, वह मिट जाएगा। उसका स्थान घृणा ले लेगी। बिना समागम वह पहले रह रही थी, लेकिन अब न रह सकेगी। हो सकता है पति की हत्या कर दे या आत्म-हत्या कर ले या व्यभिचारिणी वन जाए या पागल हो जाए। यदि उनमें से कुछ भी न हो सके, न कर सके तो कम-से-कम वह पति से घृणा अवश्य करने लगेगी।

इन्द्रियों के सम्पर्क में आने से पहले का प्रेम इन्द्रियातीत वेशक था, लेकिन उसके इन्द्रियगत होने की आशा थी। आशा जब तक टूटी नहीं, तब तक प्रेम में स्थायित्व रहा। आशा टूटी, स्थायी प्रेम अस्थायी वन गया।

कभी-कभी इन्द्रियगत प्रेम भी स्थायी हो जाता है, जब दो समान मानसिक-धरातल वाले, मिलती-जुलती रुचियों वाले, लगभग एक जैसी यौन-सामर्थ्यवाले, एक जैसी सामाजिक-स्थितियों वाले व्यक्तित्व मिलते हैं तो उनका प्यार अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होता।

कई वार ऐसा भी देखा गया है कि इस प्रकार के कारणों के अभाव के बावजूद प्रेम स्थायी होता है। वह तब, जब कि उन दोनों में से कोई एक नये प्यार का जोखिम न ले सकता हो या प्यार टूटने से होने वाली लोक-निन्दा से डरता हो। इस किस्म का कोई और भय, या कोई लाचारी भी प्रेम में स्थायित्व लाने का कारण बन सकती है।

....

प्रेमावेग

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल `लोभ` और `प्रीति` को एक ही वर्ग के दो भाव मानते हैं। उनके कथनानुसार -- `वस्तु के प्रति होने वाला प्रेम लोभ है। व्यक्ति के प्रति होने वाला लोभ प्रीति है।`[१]

किसी वस्तु या व्यक्ति का अच्छा लगना प्रेम का प्रथम चरण है; लेकिन जब तक उस प्रेम-पात्र को प्राप्त करने की उत्कट इच्छा न हो तो प्रेम अगोचर सा रहता है।

प्रेम नामी मनोविकार जब तक सामान्यावस्था में होता है तब तक उसके अस्तित्व का ज्ञान किसी को नहीं होता। जब प्रेम आवेगावस्था में होता है, तभी उसके होने का ज्ञान होता है।

सामान्य-भाव को आवेश का रूप देना ग्रंथि-रस का कार्य है। किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रलुब्ध होना सामान्य-भाव है। सामान्य-भाव व्यक्ति को उसकी प्राप्ति की चेष्टा करने के लिए प्रेरित करता है, लेकिन भाव की सामान्यावस्था में व्यक्ति चेष्टा कर नहीं सकता है। चेष्टा भावावेग की अवस्था में ही हो सकती है। भावावेग की वह अवस्था बिना ग्रंथियों के अधिक स्रवन के नहीं आती।

वस्तु और व्यक्ति के प्रति होने वाले प्रेम की कोटियों में अन्तर होता है। यदि प्रेम वस्तु के प्रति होता है तो उसे प्राप्त करने का आवेग तब तक कायम रहता है, जब तक वह वस्तु प्राप्त

---

१. रामचन्द्र शुक्ल कृत निबन्ध `लोभ और प्रीति`

नहीं होती । इच्छित-वस्तु के प्राप्त होते ही यदि वह वस्तु रखने योग्य है तो रख कर, यदि खाने योग्य है तो खाकर, वह आवेग शांत हो जाता है । वह आवेग हल्का-सा होता है ; लेकिन व्यक्ति के प्रति होने वाले प्रेम का आवेग अधिक तीव्र होता है; यह आवेग प्रेमपात्र व्यक्ति को पा लेने के बाद भी शांत नहीं होता । क्योंकि व्यक्ति का उपयोग,वस्तु के उपयोग से अलग किस्म का होता है ।

यदि इच्छित-व्यक्ति को पाने का ध्येय उससे यौन-सुख पाना हो तो प्रेमपात्र को पा लेने के बाद प्रेमी उसका स्पर्श करना चाहता है । आवेगावस्था में मात्र स्पर्श से संतोष नहीं मिलता । स्पर्श को प्रेमी घर्षण का रूप दे देता है । साधारण-घर्षण से जब उसकी तसल्ली नहीं होती तो वह दान्तों और नाखुनों का प्रयोग करने लगता है । अगर आवेग अत्यन्त तीव्र हो तो वह दाँतों और नाखुनों का काम शस्त्रों से लेने लगता है ।

ग्रंथि-रसों के तीव्र स्रवन के कारण व्यक्ति, जो अस्थायी रूप से अधिक शक्तिशाली बन चुका होता है, उपरोक्त प्रकार की तीव्र-क्रियाओं द्वारा शक्ति का दारण करता है और उस अतिरिक्त-शक्ति के नाश के बाद व्यक्ति सामान्यावस्था तक पहुँच जाता है । बिना इस प्रकार की तीव्र क्रियाओं के उस आवेग का शमन नहीं होता ।

यह चित्रण यौन-सम्बन्धों पर आधारित प्रेम के आवेग का था, लेकिन प्रेम के वे रूप भी होते हैं जो यौन-आकांक्षा पर आधारित नहीं होते । आवेग के उन रूपों में इतनी तीव्रता नहीं होती कि व्यक्ति भावावेश में प्रेम-पात्र को नोचने-काटने लगे, लेकिन आवेगावस्था में व्यक्ति का आचरण सामान्यावस्था के

व्यक्ति के आचरण से अलग अवश्य हो जाता है।

विवाह के बाद कन्या को विदा करते समय लड़की के सम्बन्धियों की आँखों में आँसू आ जाते हैं। ये आँसू ग्रंथि-रसों की ओर से प्रेमी को प्राप्त होने वाली अस्थायी-शक्ति को दारित करते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ये आँसू प्रेमावेग का शमन करने के सहायक होते हैं।

माता का अपने शिशु के प्रति प्यार होना स्वाभाविक होता हैं। जब तक वह आवेगावस्था में नहीं होता, तब तक उसके होने का उसे ज्ञान नहीं होता। जब बाहर की किसी प्रेरणा से उस प्यार का उद्दीपन होता है तो माता शिशु को छाती से लगा लेती है। उद्दीपन अधिक होता है तो उसे भींच लेती है,उसके नाक, मुख, कपोल आदि से अपने अंगों का घर्षण करने लगती है। चूमने लगती है, चूमते-चूमते हल्का-सा काट भी लेती है। आवेग यदि फिर भी शांत न हो तो बड़ी अजीब स्थिति में पड़ जाती है। यौनावेग से सम्बन्धित प्रेम में तो घर्षण के बाद भी राहें बन्द नहीं होतीं, धर्षकामी बनकर कर्ता अधिक आक्रामक रुख़ अपना सकता है, लेकिन यहाँ प्रेमी होती है ममतामयी माँ और प्रेम पात्र होता है निरीह शिशु। बिना हानि पहुँचाए आवेग का शमन सम्भव नहीं होता। माँ आवेग में दाँत पीसती है (ज़रूरी नहीं कि दाँत पीसना के मुहावरे को सार्थक करने में दाँतों का प्रयोग हो) मगर शिशु का अहित नहीं कर सकती। जब उसका अपने आवेग पर बस नहीं चलता तो वह अपने बच्चे का अच्छा-सा, प्यारा-सा नाम बिगाड़ कर भोंडा-सा अपमानजनक नाम रख देती है। चहेते बच्चों का नाम बिगाड़ने के पीछे आवेग की यही अवस्था काम करती है।

धर्षकामी जहाँ आवेग की तीव्रावस्था में अपने यौन-सहयोगी के यौनांगों को हानि पहुँचाता है, वहाँ धर्षकामी के

आवेग जैसा तीव्र आवेग धारण करने वाले माता-पिता अपनी सन्तान के यौनांगों को हानि इस रूप में पहुँचाते हैं कि वे अपनी नर सन्तान को पुकारने के समय व्याकरण के स्त्रीलिंगी नियमों का सहारा लेते हैं। मादा संतान को पुल्लिंगवत् बुलाने लगते हैं।

जोशीले मित्रों का परस्पर गाली-गलौच भरी शब्दावली का विनिमय करना, भक्त का अपने इष्ट को माखनचोर, कालाकलूटा या कमली वाला जैसे अपमानजनक विशेषणों से विभूषित करना, जनता का अपने नेता को, किसी जीत के अवसर पर आदर या प्रेमवश अपने कन्धों पर उठा लेना — ये सब प्रेम भावना के आवेश की अवस्थाएं हैं। इन जैसी उग्र क्रियाओं के बिना प्रेमावेग का शमन होना सम्भव नहीं होता।

....

दयानंद वर्मा कृत पूर्व प्रकाशित पुस्तकें

हम सब और वह (निबन्ध-संग्रह)
— भारतीय ज्ञानपीठ का प्रकाशन

मानसिक सफलता (निबन्ध-संग्रह)
— एस० डी० सहगल का प्रकाशन

प्राप्ति स्थान —

हिन्दी बुक सेन्टर, दरियागंज, दिल्ली-६

..... काम का जो सर्वव्यापी स्वरूप पिछली और इस शताब्दी के मनोविश्लेषकों द्वारा स्पष्ट किया गया है, उससे नयी पीढ़ी में एक भ्रम फैला है। यह उसी भ्रम का प्रभाव है, जो आज यौन-स्वेच्छाचार को आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा है और यह महसूस किया जाने लगा है कि अब वह समय आ गया है, जब काम की व्यापकता के सम्बन्ध में फैली हुई धारणाओं को एक बार फिर परखा जाए .....